ट्रेड यूनियन शिक्षा

व्याख्यान टिप्पणियाँ

[पहला-दूसरा भाग]

ए० बी० बर्धन

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर-302001

TRADE UNION EDUCATION
का हिन्दी अनुवाद

एटक (अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस)
के सहयोग से प्रकाशित

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०
चमेलीवाला मार्केट, एम० आई० रोड,
जयपुर-302001

1988 (RPPH-36)

मूल्य : 7.50

भारती प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित तथा रामपाल द्वारा
राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, जयपुर की ओर से प्रकाशित

विषय-सूची

द्वितीय संस्करण पर टिप्पणी 5
आमुख 7

पहला भाग

1. मज़दूर वर्ग का उद्भव और विकास एवं ट्रेड यूनियनों का उदय 11
2. भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन का उदय 14
3. मज़दूर वर्ग और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम 20
4. राजनीतिक प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष और परिणामस्वरूप ट्रेड यूनियन आंदोलन में फूट 27
5. भारतीय अर्थव्यवस्था और कार्यशक्ति में स्वातंत्र्योत्तर विकास क्रम 34
6. स्वातंत्र्योत्तर मज़दूर वर्ग-संघर्ष और ट्रेड यूनियन आंदोलन 43
7. संक्षिप्त निष्कर्ष 52
8. भारतीय मज़दूर और अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन आंदोलन 59
9. ट्रेड यूनियन का चरित्र 67
10. क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद बनाम सुधारवादी ट्रेड यूनियनवाद 73

दूसरा भाग

11. मज़दूरी का प्रश्न 80
12. मज़दूरी का प्रश्न (जारी) 87
13. महँगाई भत्ते का प्रश्न 94
14. मज़दूरी संघर्ष के निष्कर्ष एवं जारी बहस 101

15. बोनस एवं सामाजिक सुरक्षा 111
16. औद्योगिक संबंध : ट्रेड यूनियन अधिकारों के लिए संघर्ष 116
17. श्रम क़ानून 123
18. ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली 129
19. ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली (जारी) 138
20. सामूहिक कार्य एवं सामूहिक लामबंदी 147

द्वितीय संस्करण पर टिप्पणी

इस पुस्तक का पहला संस्करण इसके प्रकाशन के थोड़े समय में ही बिक गया था। यह उस इच्छा को प्रदर्शित करता है, जो काडरों और सामान्य कार्यकर्ताओं में ट्रेड यूनियन शिक्षा के प्रति पायी जाती है।

इस बीच इस पुस्तक की प्रतियों के लिए ढेरों आदेश जमा हो गये हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पुस्तक में सुधार करने व संशोधित करने के लिए विभिन्न तबक़ों से सुझावों को इकट्ठा करने और उन्हें सम्मिलित करने के लिए समय बहुत थोड़ा रहा है। थोड़े-बहुत ज़रूरी सुधारों के साथ इस दूसरे संस्करण को प्रकाशित करना ही एकमात्र विकल्प बचा है।

ट्रेड यूनियन शिक्षा एक निरन्तर प्रक्रिया है। मैं आशा करता हूँ कि निकट भविष्य में ट्रेड यूनियन क्षेत्र में लगे हुए 'शिक्षक', 'विद्यार्थी' व साथी अपनी प्रतिक्रियाएँ व सुझाव लिखने के लिए समय निकालेंगे और उन्हें एटक को भेजेंगे, जिससे अगली बार इसे और ज़्यादा सुधारा जा सके।

नयी दिल्ली
10-9-87

—ए० बी० बर्धन

आमुख

एटक के सक्रिय कार्यकर्ताओं और दूसरे ट्रेड यूनियन काडरों के लिए यह व्यवस्थित अध्ययन-क्रम का प्रयास है।

ट्रेड यूनियन कार्य एक विशिष्टता है, और हर गुज़रते दिन के साथ ट्रेड यूनियन मसले, ट्रेड यूनियन कार्य और ट्रेड यूनियन रणनीतियाँ, दिन-प्रतिदिन के ट्रेड यूनियन संघर्ष, मज़दूर वर्ग के सामान्य वर्ग-संघर्षों और समकालीन विश्व की समस्याओं से जुड़ते हुए अधिकाधिक जटिल होते जा रहे हैं। इसलिए सक्रिय कार्यकर्ताओं और काडरों के लिए ट्रेड यूनियन शिक्षा पहली प्राथमिकता का कार्य है। तैरना सीखने के लिए एक व्यक्ति को पहले पानी में कूदना चाहिए या उसमें धकेल दिया जाना चाहिए। मगर यदि उस व्यक्ति को दाँवपेच और तकनीक को जानने और लहरों व धाराओं से संघर्ष करने की दक्षता हासिल करते हुए एक योग्य तैराक होना है तो उसे कठोर प्रशिक्षण के क्रम से गुज़रना होगा। यही बात ट्रेड यूनियन कार्य के साथ भी है। यहाँ एक व्यक्ति को मज़दूरों के बीच जाने से शुरुआत करनी होती है और संपर्क में आये मज़दूरों के विशिष्ट तबक़े की स्थितियों और समस्याओं से स्वयं परिचित होना होता है। लेकिन इसके बाद, मूलभूत चीज़ों के बारे में जानकारी की कमी, या वस्तुस्थिति को समय और संयोगों के भरोसे छोड़ देना कोई अच्छी बात नहीं है। "अज्ञानता आज तक कभी भी किसी के लिए उपयोगी नहीं रही है।"

विशेषतया ट्रेड यूनियनों में मज़दूरों के संयुक्त होने के बारे में बोलते हुए, कार्ल मार्क्स ने कहा था, "उनके (मज़दूरों के) पास सफलता प्राप्त करने का एक ही तत्व है—संख्या : लेकिन संख्या तभी महत्व रखती है जबकि वह संगठित हो और ज्ञान द्वारा निर्देशित हो।"

यहाँ 'ज्ञान' से तात्पर्य ट्रेड यूनियन कार्यों के सिद्धांत और व्यवहार की जानकारी, उस वैज्ञानिक समाजवाद की जानकारी से है, जो क्रांतिकारी ट्रेड यूनियन गतिविधियों का सैद्धान्तिक आधार है।

यह अध्ययन-क्रम ज्ञान के भंडारगृह का प्रवेशद्वार है।

इस अध्ययन-क्रम में 29 अध्याय हैं, जिन्हें तीन भागों में बाँटा गया है।

पहले भाग में, सामान्यतः ट्रेड यूनियन आंदोलन के ऐतिहासिक विकास का और विशेष रूप से भारत में उसके विकास का वर्णन किया गया है।

दूसरे भाग में, ट्रेड यूनियन कार्यप्रणाली के विविध पक्षों और उन साधारण कार्यों, जिन्हें हमारी यूनियनों को आज अपने देश में सँभालना है—आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, क़ानूनी, आदि को समाहित किया गया है।

तीसरा भाग समकालीन विश्व की कुछ समस्याओं के बारे में है, जो मज़दूर वर्ग के सामने नयी चुनौतियाँ खड़ी कर रही हैं और जो नयी परिस्थितियों में प्रतिदिन के कार्यों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों से जोड़े जाने की माँग करती हैं।

इन अध्यायों को तैयार करने में, मैंने उपलब्ध सामग्री और स्रोतों, जिसमें पाठ्यक्रम का वह मूल ढाँचा भी सम्मिलित है जिसका उपयोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर हमारे साथी पिछले वर्षों में करते रहे हैं, की मदद ली है। इस उद्देश्य के लिए कई वर्ष पूर्व चलाये गये अत्यंत उपयोगी केन्द्रीय ट्रेड यूनियन विद्यालय के अनुभव का भी उपयोग किया गया है।

कुछ मुद्दों पर मैंने विस्तार से चर्चा की है जबकि कुछ पर कम। इससे अध्याय उल्टे-सीधे दिखायी पड़ सकते हैं। लेकिन ऐसा एक उद्देश्य के तहत किया गया है। जहाँ मुझे लगा कि एक औसत अध्यापक स्वयं स्रोत सामग्री को छू पाने में असमर्थ रहेगा, या फिर कुछ मुद्दों पर बल देने से बचेगा, वहाँ मैंने कुछ विस्तार से लिखने का ध्यान रखा है। ऐसा दूसरे मुद्दों के साथ नहीं किया गया है, जहाँ सामग्री पहले ही आसानी से उपलब्ध है।

कुछ दोहराव भी है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जो चीज़ एक अध्याय में एक कोण से दी गयी है, अगले अध्याय में उसी को दूसरे कोण से उठाया गया है। इस प्रकार के अध्ययन-क्रम में ऐसा अपरिहार्य है। वास्तव में यह नैरन्तर्य को बनाये रखने और अन्तर्निहित संबंध पर बल देने के लिए आवश्यक है।

प्रत्येक अध्याय आवश्यक रूप से उस विषय पर दिये गये व्याख्यान से मेल नहीं खाता। उपलब्ध समय, समूह के स्तर और कक्षा के मुख्य लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए एक ही अध्याय एक से अधिक व्याख्यान-सत्र में खींचा जा सकता है, या फिर इसका उलट, यानी एक ही व्याख्यान में दो अध्यायों को समेटा जा सकता है। ऐसा प्रत्येक अवसर पर किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए—नये-नये तथ्य और आँकड़े, जो हर रोज़ पैदा होते रहते हैं—एक शिक्षक को अपने व्याख्यान में उनका उपयोग करना चाहिए।

सबसे कठिन चीज़ थी काडरों के स्तर को चुनना, जिस पर यह अध्ययन-क्रम केन्द्रित है। यहाँ सारा बल बीच के स्तर पर केन्द्रित है—न तो नये प्रवेशार्थियों

और सामान्य कार्यकर्ताओं पर और न ही उच्चस्तरीय कार्यकर्ताओं व सर्वोच्च नेतृत्व पर।

अपनायी गयी विधि मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक होने के बजाय ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक विधि सहज रूप से ग्रहणीय है और गहन प्रभाव डालती है। यह वर्तमान को भली प्रकार समझने और भविष्य के लिए तैयार होने के योग्य बनाती है। इसके अलावा ट्रेड यूनियन आंदोलन निरंतर विकासशील और गतिशील आंदोलन है। अतएव, इसका अध्ययन एक परिवर्तनशील यथार्थ की प्रक्रिया के रूप में किया जाना चाहिए, ऐसी प्रक्रिया जिसमें सामाजिक यथार्थ बदलता है, मज़दूर वर्ग बदलता है, यहाँ तक कि आंदोलन में भी परिवर्तन होते हैं—इनमें से प्रत्येक दूसरे परिवर्तनों को लाने में अपना योगदान देता है।

नयी-नयी समस्याएँ सामने आती हैं। नयी चुनौतियाँ पैदा होती हैं। नये समाधान खोजने होते हैं। नयी उपलब्धियाँ हासिल होती हैं, नये तथ्यों, यहाँ तक कि नयी सांख्यिकीय सामग्री का भी ध्यान रखना होता है, इसलिए इसके साथ हम-क़दम होने के लिए अध्ययन-कम में भी निरन्तर संशोधन और परिवर्तन होते रहने चाहिए।

आशा है कि आने वाले समय में ट्रेड यूनियन शिक्षा को गम्भीरतापूर्वक लिया जाएगा। और यदि इस अध्ययन-क्रम से इस कार्य में मदद मिलती है, तो इसका उद्देश्य सार्थक सिद्ध होगा।

नयी दिल्ली
10 नवम्बर, 1986

पहला भाग

पाठ : 1

मज़दूर वर्ग का उद्‌भव और विकास एवं ट्रेड यूनियनों का उदय

—मज़दूर वर्ग के उद्‌भव और उसमें विकास के साथ ही हम आद्यौगिक सघषा—शोषित मज़दूरों और शोषक स्वामियों यानी पूँजीपतियों के बीच संघर्षों—के जन्म और विकास का पता लगा सकते हैं। इससे मज़दूरों के बीच, और इस प्रकार ट्रेड यूनियनों के संयोजनों के विभिन्न रूप पैदा होते हैं।

—ऐतिहासिक और तार्किक रूप से पूँजीवादी उत्पादन और इस प्रकार पूँजीवादी शोषण की शुरुआत तब होती है जब प्रत्येक पूँजीपति एक पूँजीवादी प्रशासन के तहत एक तरह की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए एक ही जगह एक साथ बहुत बड़ी संख्या में मज़दूरों को काम पर रखता है। उत्पादन के साधनों के विकास की एक निश्चित अवस्था में यह ज़रूरी और सम्भव हो पाता है।

पूँजीपति उत्पादन के साधनों पर और बहुतेरे मज़दूरों की श्रमशक्ति का उपयोग करने का अधिकार रखने के कारण **संकेन्द्रित सामाजिक शक्ति** का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि मज़दूर के पास मज़दूरी के बदले पूँजीपति को बेचने के लिए केवल **निजी श्रमशक्ति** ही होती है।

["बुर्जुआ वर्ग से अभिप्राय सामाजिक उत्पादन के साधनों के स्वामी और वेतनभोगी मज़दूरों के नियोक्ता यानी आधुनिक पूँजीपति वर्ग से है। सर्वहारा का अर्थ आधुनिक वेतनभोगी मज़दूर से है जो उत्पादन के साधनों पर अधिकार न होने के कारण जीवित रहने के लिए अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर हैं।"[1]]

—श्रमशक्ति के विक्रेता के रूप में मज़दूर और क्रेता के रूप में पूँजीपति के बीच दिखायी पड़ने वाली समानता उस वास्तविक असमानता, जो उपरोक्त संबंधों से पैदा होती है, को ढक देती है जहाँ अलग-अलग बिखरा हुआ, स्वयं अपने लिए ही खड़ा हुआ, और अपने जैसे ही दूसरे लोगों से प्रतियोगिता करता हुआ एक अकेला मज़दूर पूँजीपति का सामना करता है।

—ट्रेड यूनियनें मज़दूरों की आपसी प्रतियोगिता को रोकने और पूंजीपति से ऐसी शर्तें हासिल करने के उद्देश्य से, एक-दूसरे के निकट आने के आकस्मिक प्रयत्नों के फलस्वरूप पैदा और विकसित हुईं, जिनसे उनकी स्थिति में सुधार हो और जो उन्हें क्रीतदास के स्तर से ऊपर उठा सकें। मज़दूरों के पास एक ही सामाजिक शक्ति है, वह है उनकी संख्या की शक्ति। मगर संख्या का तभी अर्थ है जब उनमें एकता और संगठन हो। यह समझने के लिए कि संघर्ष और अनुभव के द्वारा यह किस प्रकार संभव हुआ, हमें कार्ल मार्क्स के इस स्पष्ट वर्णन की ओर ध्यान देना चाहिए :

"सर्वहारा वर्ग विकास के विभिन्न चरणों से गुज़रता है। अपने जन्म से ही इसका पूंजीपति वर्ग से संघर्ष आरम्भ हो जाता है। पहले-पहल यह लड़ाई मज़दूरों द्वारा निजी स्तर पर, फिर एक फ़ैक्टरी में काम पर लगे लोगों द्वारा, और फिर एक व्यवसाय में कार्यरत मज़दूरों द्वारा एक स्थान पर व्यक्तिगत रूप से एक पूंजीपति के ख़िलाफ़ चलायी जाती है जो प्रत्यक्ष रूप से उनका शोषण करता है। उनके हमलों का निशाना उत्पादन की पूंजीवादी स्थितियाँ नहीं होतीं, बल्कि स्वयं उत्पादन के उपकरण होते हैं; वे उन आयातित व्यापारिक वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं जो उनके श्रम से प्रतियोगिता करती हैं, वे मशीनों को तोड़-फोड़ देते हैं, वे फ़ैक्टरियों को आग लगा देते हैं, वे मध्ययुग के श्रमिकों की नष्ट हो गयी सामाजिक स्थिति को बल प्रयोग द्वारा पुनर्स्थापित करने की कोशिश करते हैं।

"इस स्थिति में सारे देश में बिखरे हुए और आपसी प्रतियोगिता से टूटे हुए मज़दूर एक बेमेल समूह निर्मित करते हैं···

"लेकिन उद्योगों के विकास के साथ-साथ सर्वहारा में न केवल संख्यात्मक वृद्धि होती है, बल्कि यह और बड़े समूहों में संकेंद्रित हो जाता है, इसकी ताक़त बढ़ती है—और वह अपनी ताक़त को बढ़ता हुआ महसूस करता है···श्रमिकों और पूंजीपतियों के बीच टकराव अधिकाधिक दो वर्गों के बीच की टकरावों की विशेषताएँ हासिल करने लगता है। परिणामस्वरूप मज़दूर पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ ट्रेड यूनियनों के रूप में एकत्र होने लगते हैं; मज़दूरी की दरों में वृद्धि हेतु वे एकत्र हो जाते हैं, कभी भी भड़क उठने वाले विद्रोहों के लिए पहले से ही तैयारी के लिए वे स्थायी संघों का निर्माण करते हैं···

"कभी-कभी मज़दूर विजयी होते हैं, लेकिन कुछ ही समय के लिए। उनके संघर्ष का वास्तविक प्रतिफल तात्कालिक परिणाम में नहीं, बल्कि मज़दूरों के लगातार विस्तृत होते संघों में निहित होता है। यह समूहबद्धता आधुनिक उद्योग द्वारा पैदा किये गये संचार के परिष्कृत साधनों द्वारा लाभान्वित होती है जो भिन्न-भिन्न स्थानों के मज़दूरों को एक-दूसरे के संपर्क में आने में मदद करती है। यही संपर्क था जिसके एक ही चरित्र वाले विभिन्न स्थानीय संघर्षों को विभिन्न वर्गों के

बीच एक राष्ट्रीय संघर्ष में संकेन्द्रित करने की ज़रूरत थी···[2]

—इससे इस प्रचार और निन्दा का हमारे देश और विदेशों में झूठ निर्णायक रूप से साबित हो जाता है कि मज़दूर संगठन और मज़दूर आंदोलन स्वार्थी व संकीर्ण प्रवृत्तियों से प्रेरित कुछ मुट्ठीभर 'व्यावसायिक विद्रोहियों' की कारगुज़ारी है। ट्रेड यूनियन मज़दूर वर्ग के बीच से, अमानवीय शोषण के ख़िलाफ़ अपने संघर्षों से और मज़दूरों के दुखों व कष्टों की आँच से मज़बूत होते हुए पैदा हुए हैं। वे किसी के उकसावे का परिणाम नहीं हैं, वरन् इतिहास का अपरिहार्य प्रयाण हैं। ट्रेड यूनियन आंदोलन की जड़ें स्वयं जीवन में गहरे धँसी हैं।

—अपने जीवनकाल में मज़दूर विभिन्न संगठन बनाते हैं। लेकिन ट्रेड यूनियन मज़दूर वर्ग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण जन-संगठन हैं। ट्रेड यूनियन ही अपने भीतर व्यापक मेहनतकश समूहों यानी समूचे वर्ग को समाहित कर सकते हैं। आज के समय में वे ही मज़दूरों के संगठन और उनके संघर्षों का केन्द्र-बिन्दु हैं। अधिकांश देशों में ट्रेड यूनियन ही कुल मिलाकर सबसे बड़े जन-संगठन और सक्रिय रूप में प्रगति की ओर उन्मुख सर्वाधिक शक्तिशाली सामाजिक शक्ति हैं।

टिप्पणियाँ :

1. कम्युनिस्ट घोषणापत्र में फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा दी गयी टिप्पणी।
2. कम्युनिस्ट घोषणापत्र : मार्क्स और एंगेल्स

ज़रूर पढ़ें :

1. कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो : मार्क्स और एंगेल्स

पाठ : 2

भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन का उदय

—औपनिवेशिक भारत में विलम्बित और परोक्ष पूंजीवादी विकास के कारण भारत में आधुनिक मज़दूर वर्ग के उद्भव में विलम्ब हुआ। यह 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक कारख़ानों के स्थापित होने और ख़ानों, बाग़ानों, रेलवे व संचार माध्यमों के आरम्भ होने के साथ ही उत्पन्न हुआ।

ब्रिटिश औद्योगिक पूँजी के पास भारतीय उपनिवेश के लिए एक स्पष्ट व सोची-समझी नीति थी। वर्ष 1813 के अन्त तक व्यापार में ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को तोड़ते हुए इसने औद्योगिक पूँजीवादी शोषण की शुरुआत की। इसका उद्देश्य भारत को ब्रिटिश पूँजी के ऐसे कृषि-स्रोत में बदलना था जो कच्चे माल की पूर्ति कर सके और अपने यहाँ तैयार माल के लिए बाज़ार प्रदान कर सके। इसका उद्देश्य हमारे संसाधनों को निचोड़ना और अपने पूँजी संचयन के लिए अधिकतम कर उगाहना था। नयी भूमि व्यवस्थाएँ लागू की गयीं जिन्होंने मालिकों और बिचौलियों के एक नये वर्ग को थोप दिया और हमारे किसानों के ऊपर लगान और कर्ज़दारी का बोझ कई गुना बढ़ा दिया। भारतीय निर्माण और दस्तकारी उद्योगों के लगभग सम्पूर्ण विनाश ने लाखों दस्तकारों और कारीगरों को उत्पादन के साधनों से वंचित कर दिया और उन्हें ज़बर्दस्त ढंग से बर्बाद कर दिया। कृषि को नष्ट होने दिया गया जिससे देश में भुखमरी फैलने लगी। इसका परिणाम तबाह कर देने वाले अकालों की शृंखला में हुआ। 1825 से 1900 के दौरान क़रीब दो करोड़ लोग मर गये। लाखों लोग बाग़ानों में काम करने के लिए समुद्रपार सुदूर ब्रिटिश उपनिवेशों में क़रारशुदा मज़दूरों के रूप में ले जाए गये। और अन्य लाखों लोगों को नये शहरों और उभरते हुए औद्योगिक केन्द्रों में जमा होने को मजबूर कर दिया जहाँ उन्हें कारख़ानों, ख़ानों, बाग़ानों और रेलवे लाइनों में काम मिल सके।

—वित्तीय पूँजी और इसके शासन यानी साम्राज्यवाद के साथ और 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की पराजय के साथ ही, कम्पनी को अन्तिम

रूप से समाप्त कर दिया गया, और ब्रिटिश पूँजी भारत में, विशेष रूप से उन क्षेत्रों में आने लगी जिन्होंने भारतीय बाज़ार को ब्रिटिश घुसपैठ के लिए खोल दिया और जो ब्रिटिश निर्माण उद्योग के ख़िलाफ़ प्रतियोगिता में नहीं आ रहे थे। रेल और तार लाइनों का जाल बिछा दिया गया। बाग़ानों और कोयला खानों का विकास किया गया। सूती कपड़ा और जूट मिलें स्थापित की गयीं।

पहली सूती कपड़ा मिल ने 1853 में बम्बई में उत्पादन कार्य शुरू कर दिया। 1858 में बंगाल में रिशड़ा में पहली जूट मिल में उत्पादन शुरू हो गया। पहली रेल लाइन 1852 में बिछायी गयी।

—ब्रिटिश निवेश के चलते, विशेषकर सूती कपड़ा उद्योग, नये भारतीय पूँजीपति वर्ग को आकर्षित करने लगे। जिसका व्यापारिक सूदख़ोर और वणिक समुदाय से उद्‌भव हो रहा था। भारतीय पूँजी को निश्चय ही ब्रिटिश पूँजी के साथ सहयोग करके और साथ ही कड़ी प्रतियोगिता करके अपना रास्ता बनाना था।

—इस तरह नये वर्ग और नयी शक्तियाँ—उभरता हुआ पूँजीपति वर्ग, अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा मध्य-वर्ग, ग़रीब किसानों और दस्तकारों के समूह से पैदा होता हुआ आधुनिक मज़दूर वर्ग—ये सब भारतीय दृश्यपटल पर उभरने लगे। औद्योगिक विकास की धीमी और डाँवाडोल प्रक्रिया ने तथा उसके विशिष्ट रूप ने भी एक लम्बे समय तक भारतीय मज़दूर वर्ग के ढाँचे को निर्धारित करने का काम किया। सूती कपड़ा, जूट और रेलवे मज़दूर देश के उभरते हुए सर्वहारा के मुख्य तत्व थे।

—1914 तक, भारत में औद्योगिक मज़दूरों की संख्या फ़ैक्टरी-एक्ट के अनुसार 9,51,000 थी। 1914 और 1918 के बीच, युद्ध के दबावों की वजह से, उद्योग की कुछ शाखाओं का तीव्र विस्तार हुआ। 1921 की औद्योगिक जन-गणना के अनुसार कुल मिलाकर 26 लाख मज़दूर थे जो दस या इससे अधिक मज़दूरों को काम पर रखने वाले संस्थानों में लगे हुए थे। यह प्रक्रिया विश्व आर्थिक संकट और पूँजीवाद के चक्रीय संकट के दौरान न सिर्फ़ धीमी हो गयी बल्कि इसे धक्का भी पहुँचा जिससे द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों में मज़दूरों की संख्या 35 लाख से अधिक न रही। यह सिर्फ़ आज़ादी और तीव्र विकास की इच्छा के बाद ही सम्भव हुआ कि भारतीय सर्वहारा की ताक़त तेज़ी से बढ़ी। लेकिन इसका अध्ययन हम बाद में करेंगे।

—इसके उत्पन्न होने के आरम्भिक दशकों में भारतीय मज़दूर वर्ग पर लाद दी गयी दरिद्रता और यातनाएँ किस मात्रा में थीं? शोषण की प्रकृति क्या थी जिसके बारे में पूँजीवादी अर्थशास्त्री व इतिहासकार कुछ नहीं लिखते और इस बारे में चुप रहना ज़्यादा पसन्द करते हैं। इस मुद्दे पर एस० ए० डांगे को उद्धृत करें :

"1852 से 1880 के बीच, इन कारख़ानों में (अंग्रेज़ों और उनके भारतीय बिचौलियों द्वारा स्थापित) मज़दूर वर्ग का अमानवीय ढंग से निर्दयतापूर्वक शोषण किया गया। धृष्ट अंग्रेज़, पवित्र हिन्दू, धार्मिक मुसलमान और अपने धर्म, राष्ट्रीयता, भाषा या देश से निरपेक्ष बहुत से लोग पूँजी के इन वूचड़खानों में आदमियों, औरतों और बच्चों का ख़ून बहाने के लिए एकजुट हो गये। विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा विजित और ज़मींदारों व भाड़े के देशद्रोहियों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट देश में नयी व्यवस्था, नयी मशीनों अब तक कभी न सुने गये कार्य रूपों और नये मालिकों द्वारा प्रताड़ित एवं भारतीय ज़मीन पर अपने जन्म से ही पूँजी की बर्बरताओं से इन लाखों लोगों को बचाने के लिए न तो कोई क़ानून था, न ही कोई नैतिक आधार।

"उन दिनों जंगल राज जारी था, काम के घंटों की कोई सीमा नहीं थी। आदमियों, औरतों और बच्चों को पूँजी की इन गुफ़ाओं में प्रतिदिन 12 से 16, 18, यहाँ तक कि 23 घंटे कार्य करने के लिए एकत्र कर लिया जाता था। न इतवार की छुट्टी होती थी, न ही शुरू और ख़त्म होने का समय तय था। पाँच-छह वर्ष की उम्र तक के बच्चे वयस्कों की तरह पूरा वक़्त काम करते थे। और जब वे मर जाते थे या मशीनों द्वारा अपंग कर दिये जाते थे, उनके जीवन या हाथ-पैरों की कोई क़ीमत नहीं रहती थी।

तो फिर पूँजी को होश में कौन लाया तथा मज़दूर के जीवन में तथा उसके शोषण के क्रम में थोड़ा-सा भी मनुष्योचित भाव व क़ानून किसने क़ायम किया? संसार भर में मज़दूर वर्ग के संघर्षों का सम्पूर्ण इतिहास यह दिखाता है कि मज़दूरों द्वारा डटकर संघर्ष चलाये बिना कभी भी पूँजीपति वर्ग ने कोई संशोधन, मज़दूरी बढ़ोत्तरी या मज़दूरों की दिशाओं में सुधार नहीं किये हैं। इस रूप में उस वर्ग की सामान्य विशेषताओं से भारतीय पूँजीपति वर्ग कोई अपवाद नहीं है।"[1]

—संक्षेप में, कार्य की दशाओं को नियंत्रित करने के लिए कोई फ़ैक्टरी क़ानून नहीं था। बिजली के बल्ब के आगमन के साथ कार्य-दिवस पर लागू सूर्योदय और सूर्यास्त की प्राकृतिक सीमाओं ने भी काम करना बन्द कर दिया। ख़ान मज़दूरों को कम वेतन दिया जाता था और ख़ानें तो वास्तव में ही मौत के 'कुएँ' थीं। हर कहीं मज़दूर दरिद्रतम स्थितियों में टूटे-फूटे मकानों में रहते थे। बाग़ान-मज़दूरों की हालत तो सबसे ज़्यादा गयी-गुज़री थी। वास्तव में, यह एक तरह का जंगल राज था।

दूसरी ओर, पूँजीपतियों ने बेहताशा मुनाफ़ा कमाया। एक उदाहरण के बतौर: 1927 में अपने स्वर्ण जयन्ती समारोह के दौरान, टाटा की नागपुर स्थित एम्प्रेस मिल्स की रिपोर्ट में मालिकों ने तुष्टि के भाव से कहा :

"···30 जून, 1926 तक एम्प्रेस मिल्स में कुल मुनाफ़ा 92,314,527 रु० से अधिक हुआ है जो आरम्भिक साधारण शेयर पूंजी से 61.47 गुना ज़्यादा है; और इसी तारीख तक कंपनी ने साधारण शेयरों पर लाभांशों में 59,413,267 रु० व्यय कर दिये हैं जो आरम्भिक अवनिर्देशित पूंजी पर क़रीब 80.86 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से बैठती है।"

एम्प्रेस मिल्स किसी भी रूप में इसका अपवाद नहीं थी। दूसरे अन्य उद्योगों के लिए भी यही सच था।

लेकिन अन्य देशों में ठीक अपने वर्गीय बन्धुओं के समान ही, भारतीय मज़दूरों ने भी अपने कष्टों और परेशानियों को मूक पशुओं की तरह नहीं सहा। उन्होंने स्वतःस्फूर्त ढंग से छिटपुट संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। जिसे राष्ट्रीय मनः-स्थिति ने भी समर्थन दिया। भारतीय मज़दूरों के हिस्से न सिर्फ़ अपनी असहनीय परिस्थितियों के विरुद्ध लड़े बल्कि राष्ट्रीय हित में साम्राज्यवादी दमन के खिलाफ़ भी लड़े। लम्बे समय तक; वास्तव में कोई स्थायी संगठन पैदा नहीं हो पाया। भारतीय मज़दूर इतने निरक्षर, खेतिहर प्रवृत्ति वाले व पिछड़े हुए थे कि उस समय वे यह कार्य पूरा नहीं कर पाये।

हमने 1827 के आसपास कलकत्ता के पालकी उठाने वालों की हड़ताल और गंगा के नाविकों व घोड़ागाड़ियों के चालकों के एक होकर हड़ताल पर जाने के बारे में सुना है। हमने 1855-57 के दौरान कछार के चाय-बाग़ान श्रमिकों की हड़ताल के बारे में भी सुना है। 1862 में, हावड़ा में, रेलवे कुलियों ने हड़ताल शुरू कर दी। 1886 में बम्बई में मेहतरों (हलाल ख़ोरों) और 1873 में भट्टे वालों ने हड़ताल कर दी। 1877 में, नागपुर में, एम्प्रेस मिल्स के मज़दूरों ने हड़-ताल कर दी। 1882 से 1890 के बीच तत्कालीन बम्बई और मद्रास प्रेसि-डेंसियों में 25 से ज़्यादा हड़तालें हुईं। वास्तव में, इस क्षेत्र में, ऐतिहासिक शोध के लिए काफ़ी सम्भावनाएं हैं। इस दौरान होने वाली सभी हड़तालों और दूसरी गतिविधियों का ब्यौरा देना यहाँ न हमारा इरादा है, और न ही यह सम्भव है।

—इन कार्रवाइयों का अंग्रेज़ शासकों पर असर पड़े बिना न रह सका। इसके अलावा, भारतीय मिल उद्योगों के विकास और इसके मुनाफ़े की दर देखकर लंकाशायर के नियोक्ता चौकन्ना हो गये। उन्होंने ऐसे किसी फ़ैक्टरी क़ानून के लिए शोरगुल मचाना शुरू कर दिया जिससे भारतीय मज़दूरों के 'ज़रूरत से ज़्यादा शोषण' को रोका जा सके। मज़दूरों के अपने संघर्षों और चोरों के आपसी झगड़ों के फलस्वरूप भारतीय मज़दूरों के लिए 1881 में पहला फ़ैक्टरी-एक्ट बन गया।

तब से, हड़तालों की हर लहर के साथ ही कार्यदिवस को छोटा करने, बच्चों और स्त्री मज़दूरों के रोज़गार पर पाबंदी लगाने, आदि के संबंध में नये-नये क़ानून पास किये गये। 1920 के हड़ताली संघर्षों से 10 घंटे का दिन हो

गया। 1930-34 के संघर्षों ने हमें 9 घंटे का कार्यदिवस दिया। युद्ध के बाद के उतार-चढ़ावों ने 1946 में कांग्रेसी सरकारों को 8 घंटे का दिन करने के लिए मजबूर कर दिया।

—जैसाकि पहले कहा गया है कि जुझारूपन में कोई कमी न होते हुए भी मज़दूर सामूहिक रूप में इतने निरक्षर, ग़रीब और पिछड़े हुए और खेतिहर प्रवृत्ति वाले थे कि कोई स्थायी संगठन बना पाने में वे सफल न हुए। प्रारम्भ में, जिस चीज़ ने कार्य किया, वह था स्वतःस्फूर्तता, जुझारूपन और पारम्परिक बन्धनों जैसेकि गाँव, जाति आदि पर आधारित तत्वों का सम्मिश्रण। केवल ऊपरी दर्जे के लोग ही **एमलगमेटिड सोसायटी ऑफ़ रेलवे सर्वेन्ट्स** (रेलवे कर्मचारियों) (1897) **प्रिन्टर्स यूनियन ऑफ़ कलकत्ता** (1905), **बोम्बे पोस्टल यूनियन** (डाक यूनियन), (1907), **कामगार हितवर्धक सभा, बम्बई** (1910) और इसी प्रकार के अन्य संगठनों का निर्माण कर सके।

—विभाजन-विरोधी और स्वदेशी आंदोलनों के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन के नये उभार, 1908 में तिलक की गिरफ़्तारी, और 1918 व 1920 के बीच युद्ध के बाद के उफ़ान के साथ ही, नवजात ट्रेड यूनियन संघर्षों के सम्मिश्रण की वजह से ही मज़दूर राजनीतिक क्रिया में संलग्न हुए और जिसने बाद में बुद्धिजीवियों को मज़दूरों के बीच जाने के लिए प्रेरित किया जिससे भारत में आधुनिक मज़दूर आंदोलन की मज़बूत नींव रखी गयी।

तिलक को सुनायी गयी सज़ा के विरोध में बम्बई के मज़दूरों की 6 दिनों की राजनीतिक आम हड़ताल के बाद लेनिन ने 1908 में लिखा : "एक वर्ग चेतस राजनीतिक सामूहिक संघर्ष चलाने के लिए भारतीय सर्वहारा पहले ही काफ़ी परिपक्व हो चुका है..."[1]

1910 में मैकडोनाल्ड ने लिखा :

"भारतीय मज़दूर वर्ग भविष्य में कभी भारत की जातियों और ब्रिटेन की ट्रेड यूनियनों के बीच के रास्ते जैसा कोई 'व्यापारिक सम्मिश्रण' पैदा करेगा।" वास्तव में, भारतीय मज़दूर वर्ग उससे कहीं आगे बढ़ चुका था जिसे मैकडोनाल्ड अनिच्छापूर्वक स्वीकार करते।

31 अक्तूबर, 1920 को बम्बई में ट्रेड यूनियनों के प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन का दीक्षांत समारोह और भारतीय मज़दूरों के पहले केन्द्रीय संगठन, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) का जन्म हुआ। इस सत्र में 800 प्रतिनिधि उपस्थित थे जो इससे संबद्ध 60 यूनियनों और 40 सहानभूति रखने वाली यूनियनों के 500,000 से अधिक मज़दूरों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। अत: इसका मतलब यह नहीं कि एटक किसी एक व्यक्ति की आकांक्षा या फिर इस तरह की सामान्य बातों का परिणाम थी कि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में भारतीय

मज़दूरों का प्रतिनिधित्व कौन करेगा।[3] इसकी नींव पहले ही रखी जा चुकी थी। इस महान ऐतिहासिक घटना ने एक नये संगठन का परिचय कराया जो ट्रेड यूनियनों को, जिन्हें मज़दूरों के संघर्ष और एकता ने उनके काम के भिन्न-भिन्न स्थलों पर सामने ला दिया था, एक **केन्द्रीय निर्देशन** प्रदान कर सकती थी। भारत का मज़दूर वर्ग और इसका ट्रेड यूनियन आंदोलन इस प्रकार निर्णायक स्थिति में पहुँच गया था। भारतीय ट्रेड यूनियन एक्ट 1926 पास किया गया जिसमें कुछ न्यूनतम शर्तों के तहत ट्रेड यूनियन को क़ानूनी मान्यता दे दी गयी।

टिप्पणियाँ :

1. हमारे मज़दूर वर्ग की सौ वर्षों की उपलब्धियाँ—एस० ए० डांगे
2. विश्व राजनीति में ज्वलनशील पदार्थ—वी० आई० लेनिन
3. यह विचार केवल गौण ही था। अगर इसे मान भी लिया जाए तो इसका मतलब यह है कि अंतर्राष्ट्रीय कारकों ने भारतीय मज़दूरों को एक राष्ट्रीय मंच पर एकजुट होने के लिए बाध्य कर दिया।

ज़रूर पढ़ें :

1. आज का भारत : रजनी पामदत्त
2. भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन का इतिहास
3. हमारे मज़दूर वर्ग की सौ वर्षों की उपलब्धियाँ : एस० ए० डांगे
4. एटक के पचास वर्ष : एस० ए० डांगे
5. भारत में हड़तालें : वी० बी० कर्णिक

पाठ : 3

मज़दूर वर्ग और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम

19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों से 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक, मज़दूर वग उद्‌भव के साथ, कभी कमज़ोर, कभी जुझारू, लेकिन स्वत:स्फूर्त व छिटपुट संघर्ष आरम्भ हो गये थे। लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के उदय के साथ ही भारतीय मज़दूर आंदोलन में उभार आया और वह एक उच्चतर स्थिति में पहुँच गया। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन द्वारा पैदा किये गये इस हौसले का प्रभाव दमन के ख़िलाफ़ खड़े हुए मज़दूरों पर पड़े बिना न रह सका। इसके तुरंत बाद ही दो ऐसे आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ जो एक साथ ह्रासमान व प्रवाहमान थे व दोनों एक-दूसरे के प्रभाव में वृद्धि कर रहे थे।

—1905 में बंगाल के विभाजन से एक अभूतपूर्व राष्ट्रीय उभार पैदा हुआ। स्वदेशी आंदोलन और विदेशी वस्तुओं का परित्याग साम्राज्यवाद विरोधी प्रवृत्ति का द्योतक था। न सिर्फ़ बंगाल में ही, बल्कि पंजाब और दक्षिण में भी मज़दूरों ने हड़ताल की घोषणा का **जवाब** दिया। इस उद्धृत प्रवृत्ति की सजीव अभिव्यक्ति कलकत्ता में **गवर्नमेंट** प्रेस कर्मचारियों द्वारा गज़ट छापने से इंकार कर देने में हुई। 1905 से 1909 के बीच **बोम्बे मिल्स**, ईस्ट बंगाल रेलवे और दूसरे अन्य स्थानों पर मज़दूरी के घंटे बढ़ाने, कष्टप्रद स्थितियों और पूँजी के **दुरुपयोगों** के ख़िलाफ़ व्यापक हड़तालें हुईं। कभी-कभी, वे राजनीतिक दमन और विदेशी शासन के प्रत्यक्ष विरोध में थीं।

—1908 में तिलक की गिरफ़्तारी और सज़ा के विरोध में बम्बई कपड़ा मिलों के दो लाख से अधिक मज़दूरों की छह दिनों की हड़ताल—सज़ा के प्रत्येक वर्ष के लिए एक दिन—एक ऐसी कार्रवाई थी जिसकी सराहना इतनी दूर से लेनिन तक ने की।

—1919 से 1922 तक की अवधि में व्यापक राष्ट्रीय उथल-पुथल का दौर रहा। लगातार बदतर होती जा रही स्थितियों के विरुद्ध युद्ध के बाद के असन्तोष और विश्व क्रांतिकारी आंदोलन को रूस की 1917 की अक्तूबर क्रांति द्वारा दिये

गये धक्के ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और मज़दूर आंदोलनों, दोनों की ताक़त को बढ़ाने में मदद की। रॉलट एक्ट के ख़िलाफ़ सामूहिक हड़ताल और जलियां-वाला बाग़ हत्याकांड के बाद पूरे देश में फैली रोष की लहर में न सिर्फ़ मज़दूर वर्ग की सक्रिय हिस्सेदारी थी, बल्कि काफ़ी बड़े पैमाने पर ये मज़दूरों के अभूतपूर्व हड़ताल आंदोलन में प्रतिबिंबित भी हुए।

जनवरी 1919 के प्रारम्भ में, पहले ही लगभग 1,25,000 मज़दूर हड़ताल पर जा चुके थे। 1920 के पूर्वार्द्ध में लगभग 200 हड़तालें हुईं जिनमें लगभग 15 लाख मज़दूर शामिल हुए। नवंबर 1921 में बम्बई के मज़दूरों ने हड़ताल कर और रोषपूर्ण धरना देकर प्रिन्स ऑफ़ वेल्स का स्वागत किया। रजनी पामदत्त ने इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

"प्रथम विश्व युद्ध के अंत के नवजागरण काल में, 1918-21 के दौर का महान हड़ताल आंदोलन राष्ट्रीय मुक्ति लहर का अग्रदूत बना जिसने अंतत: 1920-22 के असहयोग **आन्दोलन** में कांग्रेस को हरक़त में आने को मजबूर किया।[1]

इसी पृष्ठभूमि में 1920 में एटक का स्थापना सम्मेलन हुआ। यह संयोग मात्र नहीं था कि इस सत्र में लाला लाजपतराय के अध्यक्षीय भाषण, और आगे होने वाले एटक के अन्य सत्रों के भाषणों और प्रस्तावों में इन मूलभूत स्थापनाओं पर ज़ोर दिया गया कि, (i) मज़दूर एक वर्ग के रूप में संगठित और सक्रिय हो रहे हैं, (ii) भारतीय मज़दूर भारत से बाहर के मज़दूरों के साथ एकजुट हो रहे हैं (लालाजी के अनुसार, "अंतर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व की श्रृंखला में एक कड़ी जोड़ते हुए"), विशेष रूप से, रूस की प्रथम विजयी समाजवादी क्रांति के साथ, और (iii) संगठित भारतीय मज़दूर वर्ग स्वराज के संघर्ष में सक्रिय रूप से हिस्से-दारी कर रहा है। ये भारतीय मज़दूर वर्ग के आंदोलन के लिए तीन प्रतीक-चिह्न बन गये। सिंगारवेल्लु चेट्टियार की अध्यक्षता में 1923 में मद्रास में पहली बार मई दिवस मनाया गया।

असहयोग आंदोलन के विफल होने और वापस ले लिये जाने के बाद मज़दूर वर्ग पर आधारित एक नयी राजनीतिक शक्ति भारतीय दृश्य-पटल पर उभरने लगी। दिसम्बर 1925 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का औपचारिक गठन हुआ। 1924 में, एटक पहले ही यह प्रस्ताव पास कर चुका था कि आज़ाद भारत एक समाजवादी गणतंत्र होना चाहिए। उभरते हुए सर्वहार की वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा को आम मज़दूरों के बीच ले जाते हुए कम्युनिस्टों ने ट्रेड यूनियन कार्य को गम्भीरतापूर्वक लिया। 'कांग्रेसी समाजवादी' और अतिवादी बुद्धिजीवी भी बड़ी संख्या में उनके बीच गये।

शुरू के वर्षों में, जैसाकि बाद के वर्षों में भी हुआ, मज़दूरों को मुक्ति संग्राम,

और उनके अपने अधिकारों और माँगों के लिए संगठित करने के दोहरे लक्ष्य के साथ बाहर से बहुत से समाज सुधारवादी, मानवतावादी और राष्ट्रीय उदारवादी मज़दूरों के बीच कार्य करने गये। लेकिन ज़्यादातर पूंजीवादी और निम्न-पूंजीवादी राष्ट्रवादियों का कुल मिलाकर रवैया द्वैत का था—यानी दमितों और शोषितों के कष्टों और यदा-कदा होने वाले संघर्षों के प्रति सहानुभूति, मगर उनके जुझारू वर्ग, कार्य और संगठन के प्रति विद्वेष का भाव। यह विशेषकर महात्मा गांधी के रूप में मूर्त हुआ जिन्होंने अहमदाबाद के कपड़ा मज़दूरों को संगठित करते हुए और व्यक्तिगत रूप से उनके संघर्ष को चलाते हुए मज़दूरों के एक राष्ट्रीय एवं वर्गीय संगठन का निर्माण करने और उसे मज़बूत बनाने के किसी भी प्रयास से स्वयं व अपने 'मजूर महाजन'[2] को संबद्ध करने से इंकार कर दिया। यह इस तरह हुआ कि वर्ग-संघर्ष की विचारधारा और एक वर्ग के रूप में सर्वहारा, जो अपनी ऐतिहासिक भूमिका और समाज में अपनी नियति से परिचित था, के विरोध में उन्होंने अपनी 'ट्रस्टीशिप' की विचारधारा को सामने रखा।

इस शताब्दी के पिछले बीस वर्षों में भारतीय ट्रेड यूनियन आंदोलन का इतिहास कई तरह से राष्ट्रीय आंदोलन में प्रभुत्वशील और ट्रेड यूनियन के क्षेत्र में भी अपना प्रभाव रखने वाली पूंजीवादी विचारधारा एवं मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा के बीच संघर्षों को प्रतिबिंबित करता है। यह चीज़ हमें **विच्छेदों**, जिसके बाद पुनर्एकीकरण हुआ, और फिर से **विच्छेदों** में, जिनसे ट्रेड यूनियन आंदोलन ग्रस्त हो गया, दिखाई पड़ती है। 1927-28 में मज़दूरों में नयी सुगबुगाहट हुई। रेलवे मज़दूरों और बम्बई व अन्य केन्द्रों में कपड़ा मज़दूरों के लम्बे समय तक खिंचने वाले, बुरी तरह लड़े गये और अत्यंत संगठित संघर्ष हुए।

3 फ़रवरी, 1928 को जब साइमन कमीशन बम्बई आया तो 30,000 से ज़्यादा मज़दूरों ने इन नारों के साथ उसका विरोध किया : 'हम संपूर्ण स्वराज चाहते हैं,' और 'आठ घंटे का दिन,' आदि।

दिसम्बर, 1928 में, कांग्रेस के कलकत्ता सत्र में, पास के कारखाना-क्षेत्रों के 50,000 से ज़्यादा मज़दूर कांग्रेस के पंडाल में घुस गये और "संपूर्ण स्वराज" का प्रस्ताव पारित किया। यह लक्ष्य बाद में 1929 में लाहौर में कांग्रेस द्वारा अपनाया गया।

ट्रेड यूनियन आंदोलन के इस उभार में कम्युनिस्टों की क्या भूमिका रही, यह एक सुपरिचित श्रमिक इतिहासकार द्वारा प्रमाणित की गयी है जिसकी व्यक्तिगत रूप से कम्युनिस्टों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। 1928 में बम्बई सूती कपड़ा मिल मज़दूरों की हड़ताल के बारे में, उसने लिखा है :

"कम्युनिस्ट हड़ताल का नेतृत्व ले पाने में सफल रहे क्योंकि उन्होंने मज़दूरों की मनोदशा को ठीक-ठीक पढ़ लिया था और स्वयं को उनके उद्देश्यों के प्रति

समर्पित जांबाज़ योद्धा के रूप में सामने रखा था। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह महसूस किया था कि वैज्ञानिक पुनर्गठन योजना का मुक़ाबला सिर्फ़ आम हड़ताल के द्वारा ही किया जा सकता है, न कि अलग-अलग मिलों में अलग-अलग हड़ताल के द्वारा। इस चीज़ को जान लेने के बाद अपनी इस कामना को मज़दूरों पर लाद देने की उन्हें कोई जल्दबाज़ी नहीं थी। उन्होंने मज़दूरों को ख़ुद अपने ही अनुभवों से सीखने का मौक़ा दिया और आम हड़ताल की वकालत तभी की जब वे इसके लिए पूरी तरह परिपक्व हो गये उन्होंने अथक रूप से कार्य किया, अपनी मनोवृत्ति में वे निडर और निष्ठा में अटल रहे। इन गुणों का उन्हें भरपूर लाभ मिला और हड़ताल की समाप्ति के बाद वे बम्बई के मज़दूर वर्ग के निर्विवाद नेता बन गये।"[3]

1929 में 'मेरठ षड्यंत्र कांड' में कम्युनिस्ट नेताओं की धर-पकड़ के कारण, बहुत वर्षों के लिए मज़दूर एक परिपक्व और अनुभवी नेतृत्व से वंचित हो गये। इसके बावजूद बहुत से बहादुरीपूर्ण भूमिगत कार्य हुए। कम्युनिस्टों और दूसरे सक्रिय कार्यकर्ताओं ने सांगठनिक आधारभूत कार्यों को भली प्रकार किया था जिससे विश्वस्त नेतृत्व के बग़ैर भी मज़दूर कार्य में लगे रहे। जैसाकि आमतौर पर आम वापसी के दौरान होता है, कुछ भूमिगत हड़ताली गतिविधियाँ भी होती हैं जिनकी आंदोलन के लिए इसके पुनरुज्जीवन के आने वाले वर्षों में उपयोगिता होती है। 1929 में जूट मिलों की आम हड़ताल ऐसी ही एक गतिविधि थी। भारतीय जूट मिल संघ के जूट मिलों के मालिक एक सामान्य कार्रवाई के लिए एक हो गये। मगर मज़दूरों की कार्रवाई इतनी सफल थी कि मज़दूरों के बजाय नियोक्ताओं को सरकार के पास विवाद सुलझाने के लिए हस्तक्षेप हेतु पहले जाना पड़ा। राष्ट्रीय संघर्ष (1930-34) की दूसरी लहर, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, के साथ ही मज़दूर फिर से संघर्ष के लिए उतर आए। 5 मई, 1930 को गांधी जी की गिरफ़्तारी के ख़िलाफ़ शोलापुर में 50,000 से ज्यादा मज़दूरों ने हड़ताल की। आबादी के दूसरे तबक़ों के साथ, मज़दूरों ने नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया, पुलिस और नागरिक प्रशासन को भगा दिया और अपना शासन क़ायम कर लिया। शोलापुर पर फिर से नियन्त्रण के लिए 12 मई को अंग्रेज़ शासकों ने मार्शल लॉ लागू कर दिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस ले लिये जाने के बाद राष्ट्रीय मोर्चे पर तुलनात्मक चुप्पी का दौर आ गया। लेकिन मज़दूर वर्ग की गतिविधियाँ जारी रहीं जैसाकि 1933-34 में जी० आई० पी०, एम० एस० एम० व बी० एन० आर० रेलवे मज़दूरों की हड़ताल और बम्बई, कानपुर, नागपुर, शोलापुर और दूसरे केन्द्रों की बड़ी-बड़ी सूती कपड़ा मिलों के मज़दूरों की हड़तालों में देखने के लिए मिला। भयंकर दमन के बावजूद शोलापुर के मज़दूरों की हड़ताल लगभग

चार माह चली।

इसके बाद 1937 में हड़तालों की और बड़ी लहर आयी जिसमें महान मंदी के दौरान, कुछ वर्षों पहले हुई मज़दूरी में कटौती के ख़िलाफ़ जूट और सूती कपड़ा मज़दूरों ने संघर्ष कर विजय प्राप्त की। नये साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप निर्मित संविधान, जिसका कांग्रेस ने भी ज़बर्दस्त विरोध किया, के विरोध में एटक ने एक दिन की राजनीतिक हड़ताल आयोजित की। इस स्थिति ने ट्रेड यूनियन कांग्रेस, जो पहले 1929 में विभाजित हो चुकी थी और दोबारा 1931 में विभाजित हुई, के पुनर्एकीकरण का सवाल उठाया। एटक फिर से भारतीय मज़दूरों का एकमात्र केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संगठन बन गया। एटक के पुनर्एकीकरण से इसकी ताक़त में इज़ाफ़ा हुआ।

1937 में, प्रान्तों में पहली कांग्रेसी मंत्रिपरिषदों ने सत्ता संभाली। सवाल उठा : भारतीय पूँजीपति वर्ग हाथ में आयी आंशिक राज्य सत्ता का इस्तेमाल मज़दूर वर्ग के साथ अपने संबंधों में किस प्रकार करेगा? जवाब था बम्बई औद्योगिक विवाद अधिनियम,—एक प्रतिक्रियावादी अधिनियम, जो मज़दूरों के हितों के प्रति पूर्वाग्रहयुक्त था और जिसका उद्देश्य उनके हितों को पूँजीपति वर्ग के हितों के अधीन रखना था। 7 नवम्बर, 1938 को मज़दूरों ने एक दिन की विरोध में हड़ताल कर प्रतिक्रिया व्यक्त की। कांग्रेसी सरकार ने मज़दूरों पर गोली चलवाई जिसमें दो लोग मारे गये। उस समय कांग्रेसी मंत्रिपरिषदों के संक्षिप्त काल के शासन में ट्रेड यूनियन नेता हज़ारा सिंह को एक ट्रक के नीचे कुचल दिया गया जबकि वह टाटा लोहा एवं इस्पात कंपनी, जमशेदपुर में एक हड़ताल में धरने पर बैठे हुए थे। आसाम में, दिगबोई स्थित आसाम तेल मिल मज़दूरों पर सेना द्वारा गोलियाँ चलायी गयीं जिसमें 3 लोग मारे गये। परिणाम स्वरूप, जाँच समिति के सामने गवाही देने के लिए 90 मज़दूरों को सज़ा दी गयी। 6 अगस्त, 1938 को एटक ने अखिल भारतीय दिगबोई दिवस मनाने का आह्वान किया। मद्रास, बम्बई और दूसरी जगहों पर संघर्ष हुए जिनकी परिणति गोली-कांडों और मौतों में हुई।

मदुरै में हार्वे समूह की मिलों के ब्रिटिश मालिकों के ख़िलाफ़ धारा 144 लागू करने का मामला भी सामने आया। मगर मालिकों के ख़िलाफ़ इस क़िस्म का मामला अन्तिम भी था : सामान्य रूप से, पूँजीपति वर्ग की नीति मज़दूरों के दमन की थी जब वे इकट्ठे होने लगे थे और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जुझारू गतिविधियों में सक्रिय होने लगे थे।

सितम्बर 1939 में लड़ाई छिड़ गयी। 2 अक्तूबर, 1939 को 'साम्राज्यवादी' युद्ध के विरोध में बम्बई में मज़दूरों ने काम बंद कर दिया। युद्ध के कारण बढ़ती हुई क़ीमतों को निष्क्रिय बनाने के लिए बढ़ी हुई मज़दूरी और महँगाई

भत्ते के अनुदान के लिए बहुत सी जगहों पर हड़तालें हुईं। जबकि युद्ध संबंधी आदेशों की वजह से पूँजीपतियों ने मुनाफ़ा कमाया, मज़दूरों को 'युद्ध बोनस' के अनुदान की माँग में बढ़ोत्तरी हुई।

जून 1941 में सोवियत संघ पर फ़ासिस्टों के आक्रमण और 9 अगस्त, 1942 से शुरू होने वाले 'भारत छोड़ो' आंदोलन ने एक विकट स्थिति पैदा कर दी जबकि एक ओर तो एटक ने फ़ासिस्ट विरोधी युद्ध और सोवियत संघ की सुरक्षा का आह्वान किया, तो दूसरी ओर, सक्रिय रूप से राष्ट्रीय नेताओं के दमन के खिलाफ़ और उनकी रिहाई के लिए एवं 'राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु राष्ट्रीय सरकार' के गठन के लिए अभियान छेड़ दिया। इस जटिल परिस्थिति में रणनीति संबंधी गलतियाँ हुईं जिसका परिणाम आंशिक अलगाव के रूप में हुआ। लेकिन इस पर जल्दी ही क़ाबू पा लिया गया।

मुख्य रूप से लाल सेना के विजय-अभियान के कारण फ़ासिस्ट जर्मनी, इटली और जापान की पराजय ने विश्व-क्रांतिकारी शक्तियों को ज़बर्दस्त रूप से मज़बूत किया और राष्ट्रीय मुक्ति की एक ताक़तवर धारा को जन्म दिया। 1945 में युद्ध के बाद के उभार ने हड़तालों की लहर को प्रगतिकामी बल प्रदान किया। राजनीतिक जन-संघर्ष (उदाहरण के लिए, आज़ाद हिन्द सेना के मुक़दमे) आम बात हो गयी। 18 फ़रवरी, 1946 को रॉयल इंडियन नेवी के नाविकों ने विद्रोह कर दिया और जहाज़ों पर कब्ज़ा कर लिया।

नाविकों की अपील के जवाब में बम्बई के मज़दूरों ने काम बंद कर दिया। तीन लाख से अधिक मज़दूर हड़ताल पर चले गये। अंग्रेज़ सिपाहियों ने मज़दूरों और लोगों पर गोलियाँ चलायीं। 250 से ज्यादा लोगों को 'अधिकृत' तौर पर मृत घोषित किया गया। कलकत्ता, कराची, और दरअसल सारे भारत में ही, इसी प्रकार की जन-कार्रवाइयाँ हुईं। कलकत्ता की कार्रवाई पर टिप्पणी करते हुए **अमृत बाज़ार पत्रिका** ने लिखा: "सम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में इतने अधिक मज़दूरों के योगदान ने भारत में एक नयी परिस्थिति को जन्म दिया है।"

'नयी परिस्थिति' यह थी कि साम्राज्यवादी बहुत समय तक भारत पर शासन नहीं चला पाये। 11 जुलाई, 1946 को डाक कर्मचारी राष्ट्रव्यापी हड़ताल पर चले गये, बाद में डाक व तार विभाग के दूसरे तबक़े भी उनमें सम्मिलित हो गये। इन मज़दूरों के समर्थन में 29 जुलाई को अभूतपूर्व आम हड़ताल हुई। आख़िरी साँचा ढल चुका था। सत्ता के हस्तांतरण की बातचीत शुरू हो गयी। इसके साथ ही साम्राज्यवाद और आंतरिक प्रतिक्रिया ने साम्प्रदायिक भावनाओं को तेज़ी के साथ उभारा। लोगों के बीच जनवादी और धर्मनिरपेक्ष चेतना तथा मज़दूरों के बीच मेहनत से विकसित वर्ग-चेतना ने सदियों पुराने विश्वासों व पूर्वाग्रहों एवं उनसे उपजती धार्मिक तथा साम्प्रदायिक आधारों पर निर्मित चेतना

की चुनौती स्वीकार की। अगस्त 1947 में आज़ादी मिली। मगर भारत को विभाजित कर दिया गया और एक साम्प्रदायिक विनाश शुरू हो गया। लाल झंडे के नीचे एकत्रित वर्गचेतस मज़दूरों ने साम्प्रदायिक दंगों की लपटों को बुझाने के लिए बहादुरीपूर्ण काम किये। मगर दोनों चेतनाओं के बीच यह युद्ध आज तक जारी है और विभाजक व साम्प्रदायिक शक्तियों के खिलाफ़ राष्ट्रीय अखंडता व मेहनतकशों की एकता के लिए संघर्ष में एक तत्त्व बन चुका है।

बार-बार यह दावा किया जाता रहा है कि अकेली कांग्रेस ने स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया। यह सच है कि मुक्ति संघर्ष के राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में इसकी हिस्सेदारी काफ़ी बड़ी है। मगर स्वाधीनता संघर्ष पर मज़दूर-आंदोलन का प्रभाव नगण्य नहीं था। यह मज़दूर संघर्षों के साथ ही बढ़ा और विकसित हुआ। हर क़दम पर इसने स्वाधीनता संघर्ष को आगे बढ़ाने में मदद की, यद्यपि बहुत से वस्तुगत व व्यक्तिगत कारणों से यह आंदोलन में मज़दूर वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका स्थापित नहीं कर पाया। यह न देख पाना एक ऐतिहासिक भूल ही होगी कि भारतीय मज़दूरों ने स्वयं को अपने कष्टों को कम करने व अपनी दशा सुधारने की फ़ौरी ज़रूरतों से नहीं जोड़ा था। वे उन बहुत-सी धाराओं में से एक थे जो हमारे स्वाधीनता संघर्ष के शक्तिशाली प्रवाह में आकर मिल गयीं।

टिप्पणियाँ :

1. आज का भारत : रजनी पामदत्त
2. कपड़ा मज़दूर संघ, अहमदाबाद इसी नाम से लोकप्रिय है।
3. भारत में हड़ताल : वी० बी० कर्णिक

ज़रूर पढ़ें :

1. आज का भारत : रजनी पामदत्त
2. एटक के पचास वर्ष : एस० ए० डांगे
3. भारत का स्वतन्त्रता संग्राम : विभिन्न धाराएँ—जे० सरकार, ए० वी० बर्धन, एन० ई० बलराम द्वारा संपादित
4. कम्युनिस्ट एवं ट्रेड यूनियन आंदोलन—पार्वती कृष्णन्
5. भारत के स्वतंत्रता संग्राम में मज़दूर वर्ग—गौतम चट्टोपाध्याय
6. भारत में हड़तालें : वी० बी० कर्णिक

पाठ : 4

राजनीतिक प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष और परिणामस्वरूप ट्रेड यूनियन आंदोलन में फूट

औद्योगीकृत पश्चिम में पहली ट्रेड यूनियनों के उदय; मार्क्स द्वारा सर्वहारा व इसकी मुक्ति के लिए संघर्ष के सिद्धांत व रणनीति के बारे में की गयी व्याख्याएँ व लेनिन के नेतृत्व में अक्तूबर क्रांति और प्रथम सर्वहारा राज्य की स्थापना के बाद से दुनिया निर्णायक रूप से बदल गयी है। अभी भी इसका काफ़ी तीव्र गति से बदलाव जारी है। 1857 के बाद से और 1947 में आज़ादी के बाद से हमारा देश भी अविश्वसनीय रूप से बदल गया है। सवा सौ वर्षों से भी अधिक पहले अपने उद्‌भव के बाद से भारतीय मज़दूर वर्ग बदल चुका है। इसी तरह ट्रेड यूनियन आंदोलन का रूपाकार, चरित्र, समस्याएँ व इसके कार्यभारों में भी बदलाव आ गया है। हमारे अध्ययन का उद्देश्य सर्वप्रथम इन परिवर्तनों और परिवर्तनकारी शक्तियों को समझना है।

पिछले अध्यायों में, हमने बीते हुए समय के बारे में थोड़ी जानकारी प्राप्त की थी। हम सिर्फ़ इतिहास जानने के लिए इतिहास का अध्ययन नहीं करते। हमारा उद्देश्य सिर्फ़ दुनिया को समझना और उसकी व्याख्या करना भर नहीं है, बल्कि इसे बदलना है। हमारे लिए इतिहास का ज्ञान वर्तमान और भविष्य के युद्धों को लड़ने के लिए एक ज़रूरी हथियार है। जब तक हमें यह मालूम नहीं होगा कि मज़दूर वर्ग किस प्रकार विकसित और परिवर्तित हुआ है, किस प्रकार ट्रेड यूनियनें पैदा हुईं व आज की स्थिति तक विकसित हुई हैं, हम इन परिवर्तनों का अर्थ ग्रहण नहीं कर पाएँगे। हम सकारात्मक व नकारात्मक अनुभवों से कुछ नहीं सीख पाएँगे और इस प्रकार भविष्य के लिए हम स्वयं को तैयार एवं लैस नहीं कर पाएँगे। पूँजीवादी समाज में प्रचलित ट्रेड यूनियन आंदोलन में दो वर्गों, दो हितों और दो दृष्टिकोणों का अनवरत संघर्ष जारी है। भूत और वर्तमान को पूँजीपति वर्ग अपने तरीक़े से प्रस्तुत करता है और इसे इस तरह आगे बढ़ाता है कि यह भविष्य

पर अपने संकीर्ण वर्गीय हितों के लिए प्रभाव डाल सके। आगे बढ़ने के लिए हमें इसका हर क़दम पर प्रतिरोध करना है। 1920 में दिये गये अपने भाषण में एटक के पहले अध्यक्ष, लाजपत राय ने कहा था :

"यूरोप में सत्य दो तरह का है : (क) पूँजीवादी व सरकारी सत्य, और (ख) समाजवादी व मज़दूरों का सत्य। यूरोप और अमेरिका के मेरे स्वयं के अनुभव ने मुझे यह सोचने के लिए विवश कर दिया है कि समाजवादी, यहाँ तक कि बोल्शेविक सत्य भी, पूँजीवादी और साम्राज्यवादी सत्य की अपेक्षा अधिक उचित, अधिक विश्वसनीय व अधिक मानवीय है।

यह निष्कर्ष न सिर्फ़ यूरोप और अमेरिका पर ही, बल्कि सभी वर्गीय समाजों पर लागू होता है।

हमने पहले ट्रेड यूनियन चेतना की तरफ़ रुकते-रुकते बढ़ते हुए मज़दूर आंदोलन और पूँजीपति वर्ग व निम्न पूँजीपति वर्ग द्वारा प्रभुत्वशील राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य अंतर्क्रिया का ज़िक्र किया है। एक ओर, हमने समाज सुधारकों और नरम उदारपंथियों का ज़िक्र किया है। तो (बीस के दशक के बाद से) दूसरी ओर मज़दूरों के बीच काम आने वाले कम्युनिस्टों और समाजवादियों का अपने धैर्यशील और परिश्रमपूर्वक किये गये कार्य के द्वारा कम्युनिस्टों ने पहली बार ट्रेड यूनियनों को एक स्थिर और सांगठनिक रूप प्रदान किया। (यहाँ 1930 में बम्बई की सरकार द्वारा जारी किये गये श्वेतपत्र में दिया साक्ष्य प्रस्तुत है : "1919 और 1924 में मिल चलाने वालों ने एक इकाई के रूप में हड़ताल की लेकिन उन्होंने किसी सही तरीक़े से संगठित ट्रेड यूनियन, जिसके वे सदस्य हों, के द्वारा दिये गये आह्वान पर यह हड़ताल नहीं की थी। व्यापक रूप से फैले कष्टों ने उनमें अस्थायी एकता स्थापित कर दी थी व उनके पास न कोई संगठन था न पैसा। गिरनी कामगार यूनियन ही वह पहली यूनियन थी जिसने इतना अधिक प्रचार-प्रसार किया और मज़दूरों के एक बड़े समूह को एक नियमित संगठन वाली ट्रेड यूनियन में संगठित किया···") कम्युनिस्टों ने मज़दूरों को सिखाया था कि वे अपना आर्थिक संघर्ष राजनीतिक संघर्ष से और राष्ट्रीय कार्यभारों को अंतर्राष्ट्रीय कार्यभारों से जोड़ें। ट्रेड यूनियन क्षेत्र में सुधारवाद व अर्थवाद के विरुद्ध उन्होंने अथक संघर्ष चलाया। 1929 में कम्युनिस्ट नेताओं की धर-पकड़ और मेरठ कांड, दोनों ही क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद की उमड़ती हुई लहर को कुचल देने और कम्युनिस्ट नेतृत्व को जन-आंदोलन से अलग-अलग कर देने के प्रयास थे।

जहाँ तक आंदोलन के उद्देश्यों व रणनीतियों, और इसके केन्द्रीय संगठन, एटक का प्रश्न है, ट्रेड यूनियन आंदोलन के भीतर विभिन्न राजनीतिक समूहों और व्यक्तित्वों के अस्तित्व ने अपरिहार्य रूप से इसमें संघर्ष पैदा किया। परिणाम-स्वरूप, इसने प्रतिघातों की एक शृंखला को जन्म दिया।

अपने विशिष्ट काइयाँपन के साथ, गांधी जी ने स्वयं को एटक की स्थापना से दूर रखा था। उन्होंने अहमदाबाद कपड़ा मज़दूर संघ ('मजूर महाजन') को स्थापित करने में अपना पूरा सहयोग दिया था क्योंकि किसी भी तरह इसे रोका नहीं जा सकता था। लेकिन उन्होंने यह पक्का कर लिया कि मज़दूरों को एक वर्ग के रूप में, और इस तरह राष्ट्रीय स्तर पर, संगठित करने के किसी भी प्रयत्न से अहमदाबाद कपड़ा मज़दूर संघ शामिल न हो।

आधुनिक उद्योग द्वारा निर्मित संचार के नवीन साधनों, जोकि विभिन्न स्थानों पर रहने वाले मज़दूरों को एक-दूसरे के संपर्क में आने का मौक़ा देते हैं, के बारे में बोलते हुए कार्ल मार्क्स ने कहा था : "यही संपर्क था जिसकी एक ही चरित्र वाले विभिन्न स्थानीय संघर्षों को वर्गों के एक राष्ट्रीय संघर्ष में संकेंद्रित करने के लिए आवश्यकता थी···" मार्क्स ने हमेशा राष्ट्रीय स्तर पर मज़दूर वर्गों को संगठित करने की आवश्यकता पर बल दिया, क्योंकि यह राष्ट्रीय सीमाएँ ही हैं जो वर्ग-संघर्ष की वृद्धि और विकास और अंततः मज़दूरों की अंतर्राष्ट्रीय चेतना के उद्भव के लिए वास्तविक युद्धक्षेत्र का निर्माण करती हैं। इस प्रकार मज़दूरों को एक वर्ग के स्तर तक उठाने और किसी एक विशेष कारखाने या व्यवसाय में शुद्ध आर्थिक लाभ प्राप्त करने हेतु चलाये जाने वाले आंदोलन को एक राजनीतिक वर्ग-संघर्ष में बदल देने के संदर्भ में गांधीवाद मार्क्सवाद के विरोध में खड़ा हो गया।

इसके विरोध में, गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत रखा जिसके अनुसार, उद्योग पर समाज का अधिकार है और पूँजीपति उसके सिर्फ़ ट्रस्टी भर हैं। मज़दूरों को पूँजीपतियों से उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए जैसा पुत्रों का अपने पिताओं के प्रति होता है। वह किस सीमा तक जाने को तैयार थे, यह स्वयं उनके शब्दों से प्रकट है : "यदि मज़दूर एक साथ एकत्र हो जाएँ तो वे एक अप्रतिरोध्य शक्ति बन जाएँगे। यही वजह है कि मुझे वर्ग-संघर्ष की कोई ज़रूरत दिखाई नहीं देती।"

वह उनके यूनियनों के रूप में संगठित होने के विरोध में नहीं थे। मगर उन्होंने उनके कार्यभारों और रणनीतियों पर कुछ सीमाएँ बाँध दीं, रणनीतियों के द्वारा, उन्होंने अनिवार्य पंचायती निर्णय पर ज़ोर दिया, उन्होंने कपड़ा मज़दूर संघ को एटक से सम्बन्धित करने से इंकार कर दिया, क्योंकि एटक वर्ग-संघर्ष में यक़ीन रखता था।

हमने इसका काफ़ी विस्तार से वर्णन किया है क्योंकि भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन के संदर्भ में—यह वर्ग-सहयोग का संपूर्ण और सुसंगत पूंजीवादी विचार-धारात्मक नज़रिया था, जो बार-बार अपना सिर उठाता रहा है।

मार्च 1929 में दमन के द्वारा परिपक्व और अनुभवी जननेताओं के दृश्य

से हटा दिए जाने ने 1929 के बाद के दिनों में नागपुर में एटक के दसवें अधिवेशन में, जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की, सुधारवादी दक्षिणपंथी नेतृत्व को इसके विभाजन में मदद की। फूट डालने वालों ने, जिनका नेतृत्व वी० वी० गिरि, एन० एम० जोशी और कुछ दूसरे अनुभवी लोगों के हाथ में था, रॉयल कमीशन ऑफ़ लेबर (जिसे व्हिटले कमीशन के नाम से भी जाना जाता था) का बहिष्कार करने के बारे में बहुमत के निर्णय को मानने से इंकार कर दिया और राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संघ (एन० टी० यू० एफ०) की स्थापना के लिए बहिर्गमन कर दिया।

जिसे वह 'वामपंथ के कुछ सदस्यों का युवकोचित जोश' मानते हुए अपनी नाखुशी ज़ाहिर कर रहे थे, 'फूट डालने वालों' यानी 'दक्षिणपंथियों' की आलोचना के संदर्भ में नेहरू एकदम स्पष्ट थे, उन्होंने कहा :

"वामपंथ कमीशन के बहिष्कार के पक्ष में था जबकि दक्षिणपंथ सहयोग के पक्ष में···इस संदर्भ में, जैसाकि दूसरी चीज़ों के बारे में भी है, मेरी सहानुभूति वामपंथ के साथ थी···यह बड़ा अजीब लगता था कि हम सरकारी कमीशनों के साथ सहयोग करें जबकि हम प्रत्यक्ष कार्रवाई करके संघर्ष चला रहे हों।"

दक्षिणपंथ के व्यवहार के बारे में टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा :

"बहुत से फूट डालने वालों ने वास्तव में प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया था जिनका बाद के वक्तव्यों में उन्होंने विरोध किया। यह एक अजीब और काफ़ी खेदजनक व्यवहार था···"

यह समझने की बात है कि कम्युनिस्टों का यह रवैया एकदम सही था कि ट्रेड यूनियन आंदोलन और इसकी रणनीतिक स्थिति राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति और इसकी ज़रूरतों के विरोध में नहीं हो सकती।

लेकिन जुलाई 1931 में हुए इसके ग्याहरवें अधिवेशन में, एटक में एक दूसरा विभाजन हुआ। इस बार, रेड इंटरनेशनल ऑफ़ लेबर यूनियन्स (आर० आई० एल० यू०) से अंतर्राष्ट्रीय संबद्धता के सवाल पर, जो एक ऐसा प्रस्ताव था जिसे बहुमत ने ठुकरा दिया था, कम्युनिस्टों के एक हिस्से ने बहिर्गमन कर दिया। कम्युनिस्टों ने रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस बना ली। वामपंथी संकीर्णतावाद—जोकि एक बचकाना मर्ज़ है—का यह एक उदाहरण था।

बहरहाल, आर्थिक संकट और मज़दूरों पर थोपे गये बोझ ने ट्रेड यूनियनों के पुनर्एकीकरण का सवाल उठाया। कम्युनिस्टों ने पहली बार इस ज़रूरत को महसूस किया। रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस को खत्म कर दिया गया और एटक में वापस में मिला लिया गया। यह कार्य एटक के चौदहवें अधिवेशन के अवसर पर, अप्रैल 1935 को सम्पन्न हुआ।

अगला क़दम राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संघ से बातचीत करना था। एटक और

राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संघ की संयुक्त कार्रवाइयों के लिए 1936 में एक संयुक्त श्रमिक बोर्ड गठित किया गया। 1938 में, विलय के प्रस्तावों पर सहमति हो गयी, एक सहमति प्राप्त कार्यकारिणी की घोषणा कर दी गयी और अन्ततः 1940 में एटक के अठारहवें अधिवेशन में विलय की पुष्टि कर दी गयी।

यह स्मरण करना उपयुक्त है कि एकता के लिए उस समय ज्ञापित और सर्वस्वीकृत सिद्धांतों में वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत की असंदिग्ध स्वीकृति, एक उद्योग में एक ही यूनियन और भारतीय मज़दूरों के केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संगठन के रूप में एटक के सिद्धांत शामिल थे। आशंका दूर करने हेतु, एक अंतर्निहित संवैधानिक बचाव की व्यवस्था कर दी गयी जिससे सभी राजनीतिक और हड़तालों से संबंधित प्रश्नों पर सामान्य सलाहकार समिति के तीन-चौथाई बहुमत द्वारा निर्णय लिया जा सके।

यह पुनर्एकीकरण भारतीय पूँजीपति वर्ग को पसन्द नहीं आया। आज़ादी के निकट होने और अपने सत्ता में आने की सम्भावना के साथ ही कांग्रेस के पूँजीवादी नेतृत्व को मज़दूर वर्ग को विभाजित करने के लिए हस्तक्षेप करना व अपना एक कठपुतली संगठन स्थापित करना ज़रूरी लगने लगा। 1946 में विभिन्न प्रांतों में कांग्रेस की सरकारें बनने के बाद, बम्बई सरकार द्वारा पास किया गया पहला क़ानून 'बम्बई औद्योगिक संबंध विधेयक' था, जिसका घोषित उद्देश्य पूँजी और श्रम के मध्य संबंधों को अनिवार्य पंचायती निर्णय, हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगाकर और सरकार द्वारा 'सहमति प्राप्त' यूनियनों का गठन करके एकरूप बनाना था। सदन के एकमात्र कम्युनिस्ट सदस्य ने हर क़दम पर इसका दृढ़ता से विरोध किया।[3] शासक कांग्रेस ट्रेड यूनियनों को अपने अधीन चाहती थी क्योंकि इससे भारत को पूँजीवादी विकास के रास्ते पर अग्रसर में मदद मिलती। मई 1947 में कांग्रेस मज़दूर सेवक संघ द्वारा आयोजित भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इंटक) के उद्घाटन सत्र के अवसर पर अपने भाषण में मंत्री गुलज़ारीलाल नंदा, जिन्होंने बम्बई विधानसभा में बम्बई औद्योगिक संबंध विधेयक को पटल पर रखा था, स्पष्ट रूप से कहा, "इस समय की फ़ौरी ज़रूरत मज़दूरों की उन बिखरी हुई ताक़तों को एकजुट करने के लिए साधन जुटाने की है जो कम्युनिस्टों से मूलभूत विरोध रखते हैं," सरदार वल्लभभाई पटेल कहीं ज्यादा स्पष्ट थे, उन्होंने कहा, "एटक को सुधारना और इस पर कब्ज़ा करना बिल्कुल निरर्थक है, क्योंकि कम्युनिस्ट यूनियनें बोगस सदस्य बनाती हैं और अनैतिक उपायों को अपनाने से भी नहीं हिचकतीं···जो क़दम अब उठाया जा रहा है, दरअसल वह पहले ही उठा लिया जाना चाहिए था।"

इस प्रकार विभाजन का औचित्य सिद्ध कर दिया गया और इंटक एटक के

विचारधारात्मक, राजनीतिक और विरोधी ट्रेड यूनियन के रूप में अस्तित्व में आ गयी।

एन० एम० जोशी द्वारा दिये गये इन आरोपों के संयत उत्तर का हमें आभार-पूर्वक स्मरण करना चाहिए, "नवनिर्मित संगठन वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक सहायक अंग है और किसी भी तरह ग़ैर-पार्टी या ग़ैर-राजनीतिक श्रमिक संगठन नहीं है जैसाकि एटक है···यद्यपि आज एटक में कम्युनिस्टों का बहुमत है, मगर एटक द्वारा लिये गये सभी निर्णय समूचे एटक के निर्णय हैं··· दुर्भाग्यवश, घबरायी हुई कांग्रेसी सरकारें सोचती हैं कि इस परेशानी से निकलने का सबसे सरल उपाय श्रमिकों की कतारों को बाँट देने में निहित है, वे जियेंगे और सीखेंगे मगर इस दौरान यह दुष्टता कर दी गयी है।"

इन शब्दों में एक भविष्य-दृष्टि ध्वनित होती है। इंटक को जीवित रहना और उन हड़तालों के बारे में जिनका उन्हें नेतृत्व करना था, बहुत से अवसरों पर संयुक्त हड़तालों के बारे में भी जानना-समझना पड़ा। लेकिन गड़बड़ हो ही गयी है।

इस विभाजन ने अन्य दूसरे विभाजनों और विखंडन की प्रक्रिया को तेज़ कर दिया। 1948 में, समाजवादी एटक से निकल गये और उन्होंने एन० एम० रॉय के भारतीय श्रमिक संघ के साथ मिलकर हिंद मज़दूर सभा बना ली।

रिपब्लिकन सोसलिस्ट पार्टी ने एक दूसरी यूनियन यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस स्थापित करना उचित समझा। जब सोशलिस्ट यूनिटी सेंटर अस्तित्व में आया, तो इसने एक समानान्तर अटक (यू० टी० यू० सी०) संगठित कर ली।

सोशलिस्ट पार्टी में विभाजन ने हिन्द मज़दूर सभा को फिर से विभाजित कर दिया।

जनसंघ (जो अब भारतीय जनता पार्टी है) की उभरती हुई राजनीतिक आकांक्षाओं ने मज़दूरों की तरफ़ निगाहें कीं। फ़ौरन बाद ही इसने एक धार्मिक-राष्ट्रवादी विचारधारा के साथ भारतीय मज़दूर संघ की स्थापना की। इसके नारे थे। 'श्रम का राष्ट्रीयकरण। उद्योगों का श्रमिकीकरण। देश का औद्योगीकरण।' ईश्वर संपत्ति का मालिक है, और पूँजीपतियों व मज़दूरों को एक औद्योगिक परिवार की तरह ईश्वरीय प्रबंध के तहत रहना चाहिए। अतः कोई वर्ग-संघर्ष नहीं, और कोई अंतर्राष्ट्रीयतावाद नहीं। मई दिवस की बजाय विश्वकर्मा दिवस मनाओ। भारतीय मज़दूर संघ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा को भी मज़दूरों की क़तारों में भरता है।

अन्ततः भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में बिखराव ने 1964 में एटक के भीतर तनाव पैदा किये, और 1970 तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) द्वारा एक नया केन्द्रीय संगठन, सेन्टर ऑफ़ इंडियन ट्रेड यूनियन्स स्थापित कर दिया गया।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) द्वारा एटक और वामपंथी यूनियनों व संघों पर जो विभाजन थोपा गया, उसने संगठित मज़दूरों की जुझारू व क्रांतिकारी क़तारों को बाँट दिया। भारतीय परिस्थितियों में अपनी सही भूमिका निभाने के लिए प्रतिबद्ध मज़दूर वर्ग के हरावल और संगठित दस्ते की क्षमता को इसने कम किया है।

'प्रत्येक राजनीतिक पार्टी का अलग ट्रेड यूनियन केन्द्र हो' की प्रक्रिया और आगे बढ़ी है, यहाँ तक कि अब क्षेत्रीय पार्टियाँ भी अपने अलग ट्रेड यूनियन केन्द्र बनाने की कोशिश में लगी हैं।

इस स्थिति में, स्वतंत्र, असंबद्ध व औद्योगिक संघों की प्रवृत्ति बढ़ी है। बेईमान और स्वार्थी लोगों द्वारा मज़दूरों को और ज़्यादा बाँटने और उन्हें भटकाने के लिए भी इसने उर्वरा भूमि प्रदान की है।

लेकिन निश्चय ही, ज़िंदगी के अपने दबाव हैं। इस प्रकार, दोनों ही प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही हैं। जबकि बिखराव चल रहा है, एकता की ज़रूरत और इच्छा भी व्यापक रूप से बढ़ती जा रही है। ज़्यादा-से-ज़्यादा संयुक्त कार्रवाइयाँ और स्थायी संयुक्त फ़ोरम पैदा हो रहे थे।

टिप्पणियाँ :

1. "दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न तरीक़ों से दुनिया कि व्याख्या ही की है; मुख्य बात इसे बदलने की है।"—**कार्ल मार्क्स**
2. संदर्भ : 2 सितम्बर, 1946 में बम्बई विधानसभा में एस० ए० डांगे का भाषण।

ज़रूर पढ़ें :

1. एटक का संक्षिप्त इतिहास—**प्रेमसागर गुप्ता**
2. बंगाल में मज़दूर वर्ग के आंदोलन का इतिहास—**पंचानन साहा**
3. हड़ताल विरोधी विधेयक के विरोध में डांगे की भूमिका
4. कम्युनिस्ट एवं ट्रेड यूनियन आंदोलन—**पार्वती कृष्णन**
5. मेरी अवधारणा का समाजवाद—**एम० के० गांधी**
6. ट्रेड यूनियन एकता की ओर—**ए० बी० बर्धन**
   (एन० एम० जोशी० जन्म शताब्दी सेमिनार में पढ़ा गया पर्चा)

पाठ : 5

भारतीय अर्थव्यवस्था और कार्यशक्ति में स्वातंत्र्योत्तर विकास क्रम

लगभग 200 वर्षों के ब्रिटिश शासन के बाद भारत जब आज़ाद हुआ, उसे एक औपनिवेशक, पिछड़ी व विकृत अर्थव्यवस्था विरासत में मिली।

राष्ट्रीय उत्पादन का क़रीब आधा हिस्सा कृषि से मिलता था और कार्यशक्ति का लगभग 70 प्रतिशत इसमें लगा हुआ था। उत्पादन के सामंती और अर्द्ध-सामंती सम्बन्धों का ज़बर्दस्त नियंत्रण था। कृषि उत्पादन न केवल स्थिर था, बल्कि 1931 से 1947 के बीच कुछ हद तक गिर भी गया।

राष्ट्रीय उत्पादन का मुश्किल से 17 प्रतिशत खानों, निर्माण उद्योगों और लघु उद्योगों में पैदा होता था और अर्थव्यवस्था के इस सहायक क्षेत्र में जनसंख्या का केवल 9.6 प्रतिशत लगा हुआ था। औद्योगिक क्षेत्र पर उत्पादन के लघु रूपों का प्रमुख था। निर्माण उद्योगों में उपभोक्ता वस्तु उत्पादन छाया हुआ था और निर्माण क्षेत्र के उत्पादन में 78 प्रतिशत का योगदान देता था। ग्रामीण जनसंख्या की कम क्रयशक्ति और संकुचित देशी बाज़ार उत्पादन की बहुत बड़ी सीमा थीं। इस्पात का कुल उत्पादन केवल 10 लाख टन के लगभग था, कच्चे लोहे का 15 लाख टन के आसपास, पेट्रोलियम उत्पादों का केवल 2 लाख टन और मशीनों, मशीन उपकरणों, रसायनों आदि का लगभग न के बराबर। इस तरह, औद्योगिक क्षेत्र असंतुलित और तकनीकी रूप से बहुत पिछड़ा हुआ था।

इसके अलावा खानों, मिलों और फ़ैक्टरियों में ब्रिटिश पूंजी का रणनीतिक महत्व के क्षेत्रों पर कब्ज़ा था।

अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को मज़बूत बनाने के लिए, मज़बूत आधारों पर एक शक्तिशाली औद्योगिक क्षेत्र निर्मित करना, आमूल परिवर्तनवादी कृषि-सुधारों को कार्यान्वित करना एक स्वतंत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास करना ज़रूरी था।

इससे औद्योगिक क्षेत्र में राज्य की भागीदारी और विदेशी पूंजी के प्रभुत्व से युक्त एक आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था के निर्माण हेतु नियोजन को एक उत्तोलक के तौर पर इस्तेमाल करने की अवधारणा पैदा हुई। इस संदर्भ में पूंजीपति वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टी का दृष्टिकोण मूलभूत रूप से मज़दूर वर्ग और वामपंथी व जनवादी पार्टियों और तत्वों के दृष्टिकोण से भिन्न था।

पूंजीपति वर्ग राज्य के हस्तक्षेप और नियंत्रण का उपयोग पूंजीवादी विकास को आगे बढ़ाने और अर्थव्यवस्था को पूंजीवादी रास्ते पर ले जाने के लिए करना चाहता था। वामपंथी बड़ी निजी पूंजी में क्रमशः कमी, विदेशी पूंजी का अधिग्रहण अर्थव्यवस्था पर इसकी पकड़ ढीली करना और इसके आगे फैलाव पर नियंत्रण रखना और उत्पादन के प्रमुख साधनों का सामाजिकीकरण चाहते थे।

निकट भविष्य में होने वाले सत्ता-परिवर्तन के अनुमान के आधार पर टाटा, बिड़ला और दूसरे प्रमुख पूंजीपतियों द्वारा तैयार बम्बई योजना में घोषणा की गयी : "स्वामित्व अथवा प्रबन्धन की तुलना में राज्य नियंत्रण ज्यादा महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। एक व्यापक क्षेत्र में अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त करने के उद्देश्य से उत्पादन के सभी उपलब्ध साधनों का संगठन और सामाजिक दृष्टि से वांछनीय उद्देश्यों की ओर उनका प्रवर्तन अत्यन्त आवश्यक है। राज्य के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि इस उद्देश्य के लिए वह आर्थिक क्रियाओं पर अपना स्वामित्व स्थापित करे या उनका प्रबन्ध करे। भली प्रकार निर्देशित और प्रभावशाली राज्य का नियंत्रण पूर्ण रूप से पर्याप्त होना चाहिए।"

अतः, राजकीय हस्तक्षेप, नियंत्रण व नियोजन—हाँ

राजकीय स्वामित्व व राष्ट्रीयकरण—नहीं

1948 में, सरकार ने अपने औद्योगिक नीति प्रस्ताव की घोषणा की। इसके ज़रिये कोयला, लोहा और इस्पात, खनिज तेलों, दूर-संचार उपकरणों, वायुयान निर्माण और जहाज़रानी के क्षेत्रों में नये उपक्रमों की स्थापना के लिए राज्य को विशेष ज़िम्मेदारी दी गयी, लेकिन प्रचलित निजी उद्योगों को न सिर्फ़ रहने दिया गया बल्कि उनका विस्तार भी किया गया। सुरक्षा, रेलवे और परमाणु उद्योगों पर सार्वजनिक क्षेत्र का एकमात्र एकाधिकार रहना था, जिनमें से पहले दो तो पहले से ही थे, जबकि तीसरा उस समय अस्तित्व में नहीं था। सार्वजनिक क्षेत्र को दी गयी यह भूमिका इस प्रकार बहुत साधारण ही थी।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 ने यह घोषणा करके एक बड़ा क़दम लिया कि :

"समाजवादी ढाँचे के समाज की राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में स्वीकृति और नियोजित व तीव्रगामी विकास के लिए ज़रूरी है कि मूलभूत और सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं जनोपयोगी सेवाओं की प्रकृति में आने वाले सभी उद्यमों

को सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए। दूसरे उद्योगों, जोकि अत्यावश्यक हैं और उस पैमाने पर निवेश की माँग करते हैं, जिसे मौजूदा परिस्थितियों में सिर्फ़ राज्य ही प्रदान कर सकता है, को भी सार्वजनिक क्षेत्र में रखा जाना चाहिए। एक व्यापक क्षेत्र में उद्योगों के विकास के लिए राज्य को यह प्रत्यक्ष ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए।"

उद्योगों को तीन अनुसूचियों में बाँटा गया था :

(अ) ऐसे उद्योग, जिनके भविष्य में विकास की ज़िम्मेदारी विशेष रूप से राज्य की होगी,

(ब) ऐसे उद्योग, जिन्हें धीरे-धीरे सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत लाया जाएगा एवं नये उपक्रम स्थापित करने में सामान्यतः राज्य पहल करेगा,

(स) बचे हुए उद्योगों को निजी क्षेत्र के अंतर्गत विकास के लिए छोड़ दिया गया लेकिन राज्य ने उनका नियमन करने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखा।

दोनों ही प्रस्तावों में राष्ट्रीयकरण के बारे में कोई बात नहीं थी और यद्यपि दोनों में ही यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र का पूरक है वस्तुतः इसका उद्देश्य भारत में पूँजीवाद के तीव्रगामी विकास को प्रोत्साहित करना था। परवर्ती घोषणाओं में इसकी भूमिका को 'अर्थव्यवस्था की उच्चतम ऊंचाइयों को स्पर्श करने' व 'मूलभूत और सामरिक उद्योगों को गतिशील बनाने' में सक्रिय कारक के रूप में घोषित किया गया।

साख के संसाधनों पर नियंत्रण रखने, कुछ क्षेत्रों में इजारेदार पूँजीपति वर्ग पर रोक लगाने, कम उत्पादन वाले उद्योगों का प्रबन्ध करने,' 'बीमार उद्योगों की तीमारदारी करने व रोज़गार को बनाये रखने की भौतिक ज़रूरतों—राजनीतिक एवं व्यावहारिक से—से राष्ट्रीयकरण का उदय हुआ।

नीचे दिये गये आँकड़ों से सार्वजनिक क्षेत्र की प्रगति स्पष्ट है :

वर्ष	उद्यमों की संख्या	निवेश (करोड़ रुपयों में)
1.4.1951	5	29
1.4.1956	21	81
1.4.1961	48	953
1.4.1966	74	2,415
1.4.1974	122	6,237
1.4.1979	176	15,602
1.4.1984	214	35,394
1.4.1985	221	42,811
1.4.1986	225	50,341

सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण करने में सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों द्वारा दिये गये आर्थिक व तकनीकी सहयोग ने बहुत बड़ी मदद की है। सोवियत मदद से निर्मित उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र की केन्द्रीय धुरी हैं—जैसे इस्पात, भारी इंजीनियरी, ऊर्जा इंजीनियरी व उत्पादन, मशीन निर्माण, तेल, कोयला, आदि। इसने भारत को आत्मनिर्भरता के रास्ते पर ले जाने में मदद की है। इस प्रकार के भारी उद्योगों के लिए सोवियत मदद ने भारत को औद्योगीकरण के दूरस्थ क्षेत्रों को खोलने और क्षेत्रीय असंतुलन को आंशिक रूप से कम करने में मदद की है। इस सबने भारत की सौदेबाज़ी की शक्ति को मज़बूत किया है तथा आर्थिक और विदेश नीति के मुद्दों पर साम्राज्यवादी दबावों और ब्लैकमेल का मुक़ाबला करने में इसकी मदद की है।

सार्वजनिक क्षेत्र ने निजी क्षेत्र को आधार रचना, प्रचुर ऋण, सस्ता कच्चा माल और निर्मित वस्तुएँ प्रदान की हैं और इसके विकास के लिए व इजारेदारियों के विकास के लिए अनुकूल दशाएँ पैदा की हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की मूल्यनीति ने निजी पूँजी को सहारा दिया है, इसके लाभों को बढ़ाया है जबकि हानि को स्वयं वहन किया है। यहाँ तक कि बड़ी पूँजी के पत्र 'कॉमर्स' ने भी स्वीकार किया है कि "भारत के निजी क्षेत्र की जो अद्‌भुत प्रगति सम्भव हुई है उसका श्रेय सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निर्मित संरचना को ही जाता है।" पूँजीवाद को विकसित करने पर पूँजीपति वर्ग के हाथों में राजसत्ता की निर्णायक स्थितियों के होने से यह अवश्यंभावी था।

कुल मिलाकर, स्वतंत्रता के बाद के चार दशकों में अपनाये गये विकास के रास्ते से आर्थिक विकास हुआ है, इसने पुराने पड़ चुके भूमि सम्बन्धों को बदला है, भारी उद्योगों की धुरी वाले सार्वजनिक क्षेत्र को मज़बूत व वैविध्यपूर्ण बनाया है और एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की नींव रखी है। लेकिन अपनाये गये पूँजीवादी रास्ते ने विषमताएँ बढ़ायी हैं व सामाजिक ध्रुवीकरण में अपना योगदान किया है। इस रास्ते का संकट पूँजीवादी सरकारों को विभिन्न तथाकथित नयी आर्थिक नीतियों को अपनाने के लिए बाध्य कर रहा है जिसके गम्भीर परिणाम हो रहे हैं। इस सबका अध्ययन हम अगले पाठों में करेंगे।

इस बीच हम देखें कि भारतीय कार्यशक्ति के विस्तार और बदलते हुए स्वरूप के सन्दर्भ में इसका क्या मतलब है। पृष्ठ 38 पर दी गयी सारणी से स्पष्ट है :

संगठित क्षेत्र में रोज़गार (10 लाखों में)

मार्च	सार्वजनिक क्षेत्र						
का अन्त	केन्द्र सरकार	राज्य सरकार	अर्ध सरकारी	स्थानीय निकाय	योग	निजी क्षेत्र	कुल योग
1961	2.09	3.01	0.77	1.18	7.05	5.04	12.09
1971	2.77	4.15	1.93	1.88	10.73	6.74	17.47
1976	3.05	4.90	3.39	1.98	13.32	6.84	20.17
1980	3.18	5.48	4.34	2.08	15.08	7.23	22.31
1982	3.25	5.85	4.81	2.04	15.95	7.55	23.49
1984	—	—	—	—	16.85	7.40	24.25
1985	3.34	6.3	5.51	2.51	17.3	7.32	24.62
1986(जून)	—	—	—	—	—	—	25.37

इन 23 वर्षों के दौरान संगठित क्षेत्र में कुल रोज़गार 100 प्रतिशत से कुछ ऊपर पहुँच चुका है। सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार का भाग 58.3 प्रतिशत से बढ़कर 69.5 प्रतिशत तक पहुँच गया है, जबकि निजी क्षेत्र में यह 41.7 प्रतिशत से घटकर 30.5 प्रतिशत रह गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के संदर्भ में विकास की वार्षिक चक्रवृद्धि दर 3.0 से 3.4 प्रतिशत के लगभग रही है, जबकि निजी क्षेत्र में यह कुछ वर्षों में 2.3 प्रतिशत से 0.3 प्रतिशत तक नीचे पहुँच गयी है। 1982 से 1984 तक वस्तुतः गिरावट आयी है। कोई आश्चर्य नहीं कि निजी क्षेत्र में 'बीमार इकाइयों' की संख्या दिसंबर 1980 के अंत में 24,550 से तेज़ी से बढ़कर दिसम्बर 1984 के अन्त तक 93,282 तक पहुँच गयी और जून 1986 में इसने 1,30,606 की सीमा को भी पार कर लिया है।

आज़ादी के बाद से कार्यशक्ति के इस विस्तार के कौन-कौन से स्रोत रहे हैं?

पहला, किसान और देहाती मज़दूर। आजादी के बाद ज़मींदारी, माल-गुज़ारी और अन्य दूसरे मध्यस्थों को खत्म करके पुराने पड़ चुके सामंती भूमि सम्बन्धों को बदला गया, काश्तकारी क़ानूनों को भूमि हदबन्दी अधिनियमों द्वारा लागू किया गया। लेकिन भू-स्वामियों और अर्द्धसामंती वर्गों के प्रति पूँजीपति वर्ग के समझौतापूर्ण रुख के कारण जनवादी क्रांति का यह पक्ष अपूर्ण रह गया। कृषि-सुधार बीच में ही छोड़ दिये गये। भू-स्वामित्व का ढाँचा वास्तविक रूप में नहीं बदला है और अतिरिक्त भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा बाँटा नहीं गया है। 2 करोड़ 15 लाख एकड़ अतिरिक्त कार्यक्षमता का मुश्किल से 10.3 प्रतिशत अभी तक बाँटा गया है। 1981 में, देश में भूमिहीन कृषि मज़दूरों की संख्या 5 करोड़,

50 लाख थी। ग़रीब किसानों की क़तारों से प्रतिवर्ष 10 लाख लोग इसमें जुड़ जाते हैं।

छठी योजना के अनुसार, 1980 में ग़रीबी की रेखा से नीचे रह रहे लोगों की संख्या 33 करोड़ 80 लाख थी (जिसमें 28 करोड़ से ऊपर देहाती इलाक़ों से थे)। एक अनुमान के अनुसार, इसमें प्रतिवर्ष 67 लाख लोगों की वृद्धि हो जाती है (51 लाख 70 हज़ार देहाती इलाक़ों में और 15 लाख शहरी इलाक़ों में)।

अभाव और अकाल से बार-बार होने वाले विनाशों और सामान्य काल में भी देहाती इलाक़ों में रोज़गार के अभाव ने बड़े स्तर पर गाँवों से शहरों की ओर—रोज़गार और जीविका की तलाश में मुख्यतः बड़े औद्योगिक संकुलों की ओर—स्थानान्तरण को बढ़ावा दिया है। देहाती बेरोज़गारों की संख्या क़रीब 50 करोड़ के आसपास होने का अनुमान है।

दूसरे, रोज़गार दफ़्तरों के वर्तमान रजिस्टरों में (ज़्यादातर शहरी इलाक़ों में) रोज़गार अभ्यार्थियों की संख्या 1981 में 1 करोड़ 65 लाख 80 हज़ार से बढ़कर मार्च 1987 में 3 करोड़ 48 हज़ार हो गयी है। इसमें से, 1 करोड़ 30 लाख 26 हज़ार शिक्षित बेरोज़गार हैं। इसने एक 'आरक्षित फ़ौज' को जन्म दिया है जिसमें से उद्योगों और सेवाओं को नियुक्तियाँ करनी हैं।

तीसरे, शिक्षा के विस्तार ने जिसमें तकनीकी, बहुतकनीकी, इंजीनियरी, और व्यावसायिक शिक्षा भी सम्मिलित है, वैज्ञानिकों और तकनीकी कर्मचारियों (इस क्षेत्र में भारत का तीसरा स्थान है) की बड़ी ताक़त को पैदा किया है। 1981 में केवल तकनीकी स्नातकों और अधिस्नातकों की संख्या ही 10 लाख 10 हज़ार थी। जबकि ग़ैर-तकनीकी स्नातकों और अधिस्नातकों की संख्या 50 लाख 88 हज़ार थी। तब से यह संख्या तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। प्रौद्योगिक रूप से विकसित और अत्याधुनिक उद्योगों व उत्पादन, सेवा और प्रशासनिक क्षेत्रों की आवश्यकताओं ने लगातार बढ़ती हुई संख्या में उनकी भरती को प्रेरित किया है। ये लोग शहरी मध्यवर्गों और व्यावसायिक समूहों से, मध्यम और अमीर किसानों से, यहाँ तक कि मज़दूर वर्गों से भी आते हैं। उच्चस्तरीय शिक्षा संस्थाओं और सेवाओं में अनुसूचित जातियों, जन-जातियों और कुछ राज्यों में पिछड़े हुए वर्गों के लिए आरक्षण ने समाज के निम्न और अभी तक उपेक्षित हिस्सों से आने वाले लोगों को, सीढ़ी के निचले दर्जे पर जो कुछ गुंजाइश थी, उसके अलावा उच्च स्तर की श्रेणियों से जुड़ने में मदद की।

और अंत में, औद्योगिक क्रियाकलाप और दूरस्थ इलाक़ों में कुछ बड़ी परियोजनाओं के विस्तार ने स्थानीय लोगों, मुख्यतः अकुशल और अर्धकुशल मज़दूर-शक्ति को अवसर प्रदान किया है जिनके पास 'औद्योगिक संस्कृति' का पिछला कोई अनुभव या ज्ञान नहीं है। इसके साथ ही, इन परियोजनाओं, मुख्यतः कुशलता

व बहुत अधिक कुशलता की माँग करने वाले व्यवसायों में कार्य करने के लिए इसने क्षेत्र से 'बाहर' के लोगों के अंतर्प्रवाह को जन्म दिया है, बाहर जाने वाले निर्माण मज़दूरों, जो एक परियोजना से दूसरी परियोजना में घूमते रहते हैं, की संख्या भी बढ़ी है।

विभिन्न स्रोतों, जिनमें अभी तक के ग़ैर-मज़दूर वर्गीय स्रोत भी शामिल हैं, से पैदा होने वाले अंतर्प्रवाह के साथ कार्यशक्ति भी बढ़ी है, आगे आने वाले पाठों में हम इस घटनाक्रिया, वर्तमान समय में मज़दूर वर्ग के परिवर्तित स्वरूप और इससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

लेकिन ट्रेड यूनियन और आज की राजनीतिक क्रियाओं के कुछ तथ्यों और उपकरणों से स्वयं को लैस करने के उद्देश्य से यहाँ हम कुछ चुनिंदा तालिकाएँ प्रस्तुत करेंगे :

1981 में मज़दूर और ग़ैर-मज़दूर जनसंख्या (दस लाखों में)

	योग	ग्रामीण	शहरी
जनसंख्या (योग)	665.3	507.6	157.7
पुरुष	343.9	260.1	83.9
स्त्रियाँ	321.4	247.5	73.8
प्रमुख मज़दूर (योग)	222.5	176.4	46.1
पुरुष	177.5	136.8	40.7
स्त्रियाँ	45.0	39.6	5.4
सीमांत मज़दूर (योग)	22.1	20.9	1.2
पुरुष	3.5	3.1	0.4
स्त्रियाँ	18.6	17.8	0.8
ग़ैर-मज़दूर (योग)	420.7	310.3	110.4
पुरुष	162.9	120.1	42.7
स्त्रियाँ	257.8	190.2	67.7

नोट : प्रमुख मज़दूर उसे कहते हैं जो गणना की तारीख से पूर्व कम-से-कम 183 दिनों के लिए आर्थिक रूप से उत्पादक क्रिया में लगा हुआ था। सीमांत मज़दूर वह है जिसे 183 से कम दिनों के लिए काम मिला। ग़ैर-मज़दूर वह है जिसने पिछले वर्ष बिल्कुल काम नहीं किया। गृहणियाँ विद्यार्थी व रिटायर्ड लोग ग़ैर-मज़दूरों में शामिल होते हैं। (1981 की जन-गणना के 'प्रमुख मज़दूरों' और 1971 की जन-गणना के 'मज़दूरों' में व्यापक समरूपता पायी जाती है),

1982 में उद्योग विभाग द्वारा संगठित क्षेत्र में रोज़गार (हज़ारों में)

उद्योग	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र
कृषि, आखेट आदि	457	851
खनन	832	129
उत्पादन	1,592	4,661
बिजली, गैस और पानी	698	36
निर्माण	1,112	71
थोक एवं खुदरा व्यापार आदि	113	277
यातायात एवं संचार आदि	2,781	60
सेवाएँ	8,362	1,463
योग	15,947	7,548

निजी क्षेत्र में सर्वाधिक रोज़गार निर्माण उद्योगों में है, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र में यह सेवाओं के बाद यातायात और संचार में है।

वेतनभोगी और स्व-रोज़गार प्राप्त (1977-78)

	संख्या (दस लाख में)	कुल का प्रतिशत
मज़दूरी एवं वेतनभोगी	100.5	38.5
संगठित क्षेत्र	24.8	9.5
सार्वजनिक क्षेत्र	15.0	5.7
निजी क्षेत्र	9.8	3.8
असंगठित क्षेत्र	75.7	29.0
कृषि मज़दूर	58.3	22.3
ग़ैर-कृषि मज़दूर	11.4	4.4
अन्य	6.0	2.3
स्वरोज़गार प्राप्त	160.4	61.5
काश्तकार	128.1	49.1
ग़ैर-काश्तकार	32.3	12.4
योग	260.9	100.0

नोट : (एक तालिका में दी हुई कुछ संख्याएँ दूसरी तालिकाओं में दी गयी संख्याओं से नहीं मिलतीं, क्योंकि दोनों का आधार एक नहीं है और स्रोत भी भिन्न हैं)।

असंगठित क्षेत्र में रोज़गार संगठित क्षेत्र में रोज़गार से तीन गुना ज्यादा है। दोनों क्षेत्रों में मज़दूरी और वेतनभोगी लोगों की तुलना में स्वरोज़गार-प्राप्त लोगों की संख्या डेढ़ गुनी अधिक है।

टिप्पणी :

1. यह संख्या पहले ही 3 करोड़ पार कर चुकी है।

ज़रूर पढ़ें :

1. सार्वजनिक क्षेत्र पर हमला : एम० एस० कृष्णन
2. भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र : गिरीश मिश्रा
3. उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण
4. भारतीय श्रम सांख्यिकी
5. आर्थिक सर्वेक्षण : भारत सरकार
6. विकासमान देशों में राज्य क्षेत्र : एक परिचर्चा (एन० के० कृष्णन, ए० बी० बर्धन और चतुरानन मिश्र के लेख)

पाठ : 6

स्वातंत्र्योत्तर मज़दूर वर्ग-संघर्ष और ट्रेड यूनियन आंदोलन

आज़ादी के बाद बड़े पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में भारतीय पूँजीपति वर्ग ने राज-सत्ता की निर्णायक स्थितियों पर अपना अधिकार कर लिया है। भू-स्वामियों के साथ उसके मज़बूत संबंध व समझौते हैं। 'कल्याणकारी राज्य', 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था', 'समाजवादी ढाँचे का समाज' और इसी तरह के नारे देते हुए इसने स्वतंत्र पूँजीवादी विकास के दीर्घकालीन हितों को देखते हुए राजसत्ता का इस्तेमाल करना आरम्भ कर दिया। इसका आशय सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण करना था, जो तात्विक रूप में एक साम्राज्यवाद विरोधी धार और चरित्र लिये हुए था। इसका आशय साख और बजट संबंधी कारकों के नियोजन के उपकरण द्वारा इजारेदारी विकास और पूँजीवादी विस्तार के विरोधी दावों को नियंत्रित करना था। इसका आशय कुछ सीमा तक कृषि संबंधी सुधारों और कृषि क्षेत्र में निवेशों से था, जहाँ तक मज़दूर वर्ग का संबंध है, पूँजीपति वर्ग की नीति उन्हें काबू में रखने और बड़ी-बड़ी रियायतें देने की थी—जब भी सामाजिक-राजनीतिक ज़रूरतों ने उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर किया।

उसने, सबसे पहले, ट्रेड यूनियनों को विघटित कर, अपने विचारधारात्मक, राजनीतिक और व्यावहारिक नियंत्रण में यूनियनें स्थापित कर और हंगामी प्रशासनिक उपायों द्वारा उन्हें सहारा देकर इस नीति का श्रीगणेश किया। इसने औद्योगिक संबंधों की एक कार्यसूची थोप दी जिसने यूनियन को अशक्त बना डाला, वास्तविकता में हड़तालों को ग़ैर-क़ानूनी क़रार कर दिया और कभी न खत्म होने वाली मुक़दमेबाज़ी में मज़दूरों को फँसा कर लंबे खिंचने वाले अनिवार्य अदालती निर्णय व्यवस्था को थोप दिया।

इसके विपरीत, एटक और अन्य दूसरी समान विचारों वाली ट्रेड यूनियनें न्यूनतम जीवन स्तरों को स्थापित करने और क्रमशः उन्हें उठाते जाने, वर्तमान

स्तरों को मुद्रास्फीति, मूल्य वृद्धि और प्रत्यक्ष मज़दूरी में कटौती के कारण कम होने से बचाने, आधुनिकीकरण, वैज्ञानिक पुनर्संगठन, स्वचालन और इसी प्रकार की अन्य कोशिशों के विरुद्ध काम की सुरक्षा बनाये रखने, दुर्घटना, ख़राब स्वास्थ्य, छँटनी, बुढ़ापे और मातृत्व में कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने; ट्रेड यूनियन और जनवादी अधिकारों को ख़त्म करने या छीने जाने के प्रयासों के विरुद्ध उनकी रक्षा करने और उनका विस्तार करने; स्वतंत्र आर्थिक विकास, लोकतंत्र और सामाजिक प्रगति की दिशा में तथा बाह्य रूप में गुटनिरपेक्षता, साम्राज्यवाद विरोध, राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों को मदद, समाजवादी देशों के साथ मित्रता और विश्व-शांति की सुरक्षा की प्रगतिशील विदेश नीति की ओर देश को बढ़ाने के लिए निरंतर प्रयासरत रहे हैं। नेतृत्व के द्वारा ग़लतियाँ, यहाँ तक कि भयंकर ग़लतियाँ हुई हैं मगर प्रमुख प्रयास की दिशा को कभी भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया गया।

आज़ादी के तुरन्त बाद, सरकार ने एटक और कम्युनिस्टों के नेतृत्व वाले संगठनों के ख़िलाफ़ भयंकर दमनचक्र चलाया, तेलंगाना के किसानों का जो भूमि के लिए और निज़ाम के शासन के दौरान सामंती और रज़ाकारों की क्रूरताओं के विरुद्ध लड़ रहे थे, सशस्त्र सेनाओं द्वारा निर्दयतापूर्वक दमन किया गया जबकि यह संघर्ष बदली हुई परिस्थितियों में चलाया गया था। ट्रेड यूनियनों और दूसरे जन संगठनों के हज़ारों अग्रणी कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को जेल में ठूँस दिया गया। उस समय नेतृत्व द्वारा अपनायी गयी वामपंथी-संकीर्णतावादी और दुस्साहसिक नीति ने सरकार को अपने दमनकारी कार्यों को चलाने का अवसर प्रदान किया, उनके पारम्परिक संघ के अध्यक्ष द्वारा 9 मार्च, 1949 को दिया गया रेलवे हड़ताल का आह्वान असफल साबित हुआ। इसने आम जनता से अलगाव को प्रोत्साहित किया और एटक की गतिविधियों को झटका लगा।

1952 में कलकत्ता में एटक ने एक अधिवेशन बुलाया, अपने बलों को फिर से इकट्ठा किया, ट्रेड यूनियन आंदोलन में आयी दरार को पाटने की अपील की और सभी स्तरों पर संगठन के पुनर्निर्माण हेतु जुट गयी।

सही लाइन पर सामान्य क्रियाकलाप की वापसी के अच्छे लाभ हुए। 1946 के पश्चात एक नयी धारा ट्रेड यूनियन आंदोलन के मुख्य प्रवाह के साथ मिलने लगी थी। मज़दूर वर्ग की तकनीकों और संघर्ष के तरीक़ों का सहारा लेते हुए बैंक कर्मचारियों के नेतृत्व में मध्यवर्गीय कर्मचारियों यानी सफ़ेदपोश लोगों ने स्वयं को ट्रेड यूनियनों के रूप में संगठित करना प्रारम्भ कर दिया था। अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ ने, जिसकी स्थापना 1946 में हुई थी, 1947 में लखनऊ में अपना पहला वार्षिक सम्मेलन बुलाया। मध्यवर्गीय कर्मचारियों के दूसरे हिस्सों, जैसे बीमा, व्यापारिक और सरकारी कर्मचारियों पर मुक़दमे चले। एटक के

कलकत्ता अधिवेशन ने इस सकारात्मक विकास का जायज़ा लिया और मध्यवर्गीय कर्मचारियों को संगठित होने और साझे संघर्षों, साझे प्रयासों और साझी नियति में मज़दूर वर्ग के साथ हाथ मिलाने का आह्वान किया।

तब से मध्यवर्गीय कर्मचारियों के संगठन हमेशा सक्रिय, जुझारू और भारतीय ट्रेड यूनियन आंदोलन के व्यापक आधार वाले दस्ते रहे हैं। इस अवधि में अध्यापकों, प्रोफ़ेसरों, इंजीनियरों, पत्रकारों और अन्य व्यावसायिक समूहों ने भी अपने संगठन स्थापित कर लिये हैं, जुझारू हड़ताली गतिविधियों में संलग्न हो रहे हैं और अनेक अवसरों पर ट्रेड यूनियन आंदोलन के साथ संबद्ध हो रहे हैं।

मज़दूरी वृद्धि और मज़दूरी का मानकीकरण ही औद्योगिक विवादों के एकमात्र मुख्य कारण रहे हैं जिससे इस दौरान हड़ताल की कार्रवाइयाँ हुई हैं। 1928 में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई० एल० ओ०) ने न्यूनतम मज़दूरी पर एक प्रस्ताव (संख्या 26) पारित किया था। 1968 में भारत ने इसकी पुष्टि कर दी। इस बीच न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, 1948 पास कर दिया गया। इसका क्षेत्र उन रोज़गारों तक सीमित था जिसमें हाड़तोड़ मेहनत अधिक प्रचलित है या जहाँ श्रम के भयंकर शोषण का कोई अवसर रहता है, सिवा इसके कि ट्रेड यूनियनों को आंदोलन के लिए एक पताका प्रदान की है, इसका क्रियान्वयन अब तक नहीं हो पाया है। राष्ट्रीय श्रम आयोग (1969) का मानना था कि "बहुत से रोज़गारों में न्यूनतम मज़दूरी एक बार निर्धारित होने के बाद फिर से संशोधित ही नहीं की गयी" और फलस्वरूप बहुत सी स्थितियों में मज़दूरी की प्रचलित दरें काफ़ी पहले निर्धारित न्यूनतम दरों से ज़्यादा थीं। जहाँ कहीं उच्चतर न्यूनतम मज़दूरी की पवित्र घोषणाएँ की गयी हैं, नियोक्ताओं को उनकी उपेक्षा व अतिक्रमण करने दिया गया है और बच निकलने दिया गया है। (बीड़ी, शक्तिचालित करघे, आदि)

प्रारम्भिक वर्षों में स्थापित उचित मज़दूरी समिति ने न्यूनतम मज़दूरी और वास्तविक मज़दूरी की कुछ अवधारणाओं को इस रूप में परिभाषित किया कि उचित मज़दूरी की निम्न सीमा ही निम्नतम मज़दूरी होगी और उच्च सीमा का निर्धारण उद्योग की भुगतान क्षमता के आधार पर होगा।

मज़दूरी के इस संघर्ष की सबसे बड़ी उपलब्धि 1957 में पन्द्रहवें भारतीय श्रमिक अधिवेशन का वह निर्णय रहा जिसने 'आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम मज़दूरी' की गणना हेतु कुछ वैज्ञानिक मानदण्डों को स्थापित किया। यह सिद्धांत के प्रश्न पर ट्रेड यूनियन आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विजय थी। व्यवहार में, बहरहाल, सभी वेतन कमीशनों, मज़दूरी बोर्डों, ट्रिब्यूनलों, आदि की नीयत वर्तमान परिस्थितियों में इसे अवास्तविक या अव्यवहार्य मानकर उपेक्षा करने की रही है, और इन मानदण्डों को नीचे की ओर संशोधित करने के षड्यन्त्र में सरकार शरीक़ रही है।

मज़दूरी निर्धारण के मामले में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि, जिसे अनेक स्थानीय और औद्योगिक संघर्षों द्वारा प्राप्त किया गया है, ज़्यादातर उद्योगों में द्विपक्षीय समझौतों की शुरुआत तथा ट्रिब्यूनलों और मज़दूरी-बोर्डों का वास्तविक परित्याग किया जाना रहा है। बैंक कर्मचारियों (अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ) द्वारा इस दिशा में रास्ता खोल दिया गया है तथा यह अब अधिकांश सार्वजनिक क्षेत्र उद्योगों और कुछ निजी क्षेत्र उद्योगों में भी आम तरीक़ा बन गया है। इन उद्योगों में ट्रेड यूनियनों की विकसित होती हुई ताक़त की वजह से सरकार द्वारा समर्पित अनिवार्य पंचायती निर्णय और अदालती फ़ैसले के ऊपर सामूहिक सौदेबाज़ी के सिद्धांत ने जीत हासिल की। बदले में, इसने ट्रेड यूनियन की ताक़त को और मज़बूत किता है और आगामी संयुक्त आंदोलनों और कार्रवाइयों के लिए रास्ता तैयार करते हुए भिन्न-भिन्न प्रतिबद्धताओं वाली यूनियनों को साझी सौदेबाज़ी की मेज़ पर लाने का कार्य किया है। इस प्रकार से मज़दूरी के निपटारों के द्वारा संगठित उद्योगों के संगठित मज़दूर वास्तविक लाभ प्राप्त करने में सफल रहे हैं। सरकार द्वारा इन दिनों इस तरीक़े को उलटने अथवा उसे जकड़ने के प्रयास किये जा रहे हैं। सार्वजनिक उद्यम बोर्ड के निर्देशों के तहत खुल्लमखुल्ला मज़दूरी-जाम लागू किया जा रहा है।

युद्ध के शुरू होने के बाद से ही महँगाई भत्ते की माँग उठायी गयी थी। (1940 में बम्बई कपड़ा मज़दूरों की महान 'महँगाई' हड़ताल इसका प्रमाण है)। इस माँग का आशय मूल्य वृद्धि के कारण मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में आने वाली कमी को रोकना था। आज़ादी के बाद, पूँजीवादी नियोजन पद्धति ने अनिवार्यतः उच्च मुद्रा प्रसार के दबाव पैदा किये हैं और मूल्य वृद्धि और अधिक बढ़ाने में मदद की है। अनेकों जाँच समितियाँ (डिबेटिया, जयरत्नम और अन्य) पहले ही युद्ध के दौरान जीवन निर्वाह लागत से सम्बद्ध महँगाई भत्ते की व्यवस्था कर चुकी थीं : बाद के वर्षों में राज्याध्यक्ष पुरस्कार (1946), प्रथम केन्द्रीय वेतन आयोग (1947), उचित मज़दूरी समिति (1948), बैंक पुरस्कार आयोग (1955), द्वितीय वेतन आयोग (1959), दास आयोग (1965), गजेन्द्रगड़कर आयोग (1967) ने, जिनकी परिणति भारत सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय महँगाई भत्ता समिति में हुई, महँगाई भत्ते के फार्मूले तैयार किये हैं। प्रत्येक के द्वारा निष्क्रियकरण की अनेकों विधियाँ व दरें सुझाई गयीं, मगर हरेक अग्रगामी क़दम कड़े संघर्षों और हड़ताली कार्रवाइयों का परिणाम रहा है, जो संख्यात्मक रूप से अवर्णनीय हैं।

पहले, कम मूल वेतन व ज़्यादा महँगाई भत्ता व्यवहार में था। लेकिन अब, बोनस, ग्रेच्युटी आदि के मूल वेतन + महँगाई भत्ते के आधार पर गणना करने के बाद और इसके बावजूद, कि मूल्य सूचकांक में किसी वास्तविक गिरावट के कोई

आसार नहीं हैं, सूचकांक के किसी निश्चित बिन्दु पर वेतन को महँगाई भत्ते के साथ मिला देने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

बहरहाल, संघर्षों के दबाव में इस हाथ से जो कुछ दिया जाता रहा है, सूचकांक में गड़बड़ी, नये परिवार बजट जाँच के प्रतिरोध, मनमाने ढंग से आधार-भूत वर्ष में परिवर्तन, और दरों को संशोधित करने से इंकार जैसे उपायों द्वारा उसे उस हाथ से वापस ले लिया जाता है जिससे निम्नतम मज़दूरी स्तरों पर 100 प्रतिशत से अधिक निष्क्रियकरण, (क्योंकि इन स्थितियों में, कुल प्रभाव उससे कहीं ज़्यादा होता है जो जीवन सूचकांक लागत दिखाती है), मध्यम स्तर पर 100 प्रतिशत निष्क्रियकरण और उच्चतर स्तरों पर क्रमशः कम दरों पर प्रबन्ध किया जा सके।

बोनस के लिए संघर्ष, जिसका एक लम्बा इतिहास रहा है। जो मज़दूरों के इस दावे पर आधारित है कि यह एक 'स्थगित वेतन' है और जो अधिकतर उद्योगों में सालाना हड़तालों का कारण रहा है को सफलता तब मिली जब बोनस भुगतान अधिनियम, 1955 संविधि संहिता में शामिल किया गया। जहाँ कहीं भी नियोक्ता-कर्मचारियों के बीच मेल-जोल पाया जाता है, वहाँ उन उद्योगों में जिन्हें बेतहाशा मुनाफ़ा प्राप्त होता है, उनमें 20 प्रतिशत के प्रतिबन्ध को पार करते हुए और अधिकतम पात्रता मज़दूरी आदि को ऊपर उठाते हुए आगामी संघर्षों ने 4 प्रतिशत न्यूनतम सालाना मज़दूरी को 8.33 प्रतिशत तक बढ़ाने और बोनस को कर्मचारियों के सभी तबकों तक पहुँचाने में मदद की है। हरेक क़दम के लिए और अनेक मौकों पर मज़दूरों को जन-कार्रवाइयों का सहारा लेना पड़ा है। संगठित उद्योगों और अनेक असंगठित उद्योगों में भी बोनस मज़दूरों के कुल वेतन का एक आवश्यक सालाना घटक हो गया है। अब कोशिश यह है कि इसे सभी तरह के उत्पादकता मानदण्डों और प्रणालियों से जोड़कर क्षीण कर दिया जाय।

'वेतनभोगी मज़दूर'—जो समाज की प्रमुख उत्पादक शक्ति है, के निर्वाह, उत्पादन और विस्तृत पुनरुत्पादन के लिए एक आवश्यक तत्व के रूप में सामाजिक सुरक्षा ट्रेड यूनियन संघर्षों का एक जीवंत मुद्दा रही है। ब्रिटिश शासन के दौरान मज़दूर क्षतिपूर्ति अधिनियम और मातृत्व लाभ अधिनियम पहले ही लागू किये जा चुके थे। स्वतन्त्रता के बाद ट्रेड यूनियन संघर्षों और वेतनभोगी मज़दूर की वंशवृद्धि से जुड़ी हुई पूँजीपति वर्ग की अपनी ज़रूरत ने अनेक सामाजिक सुरक्षा अधिनियमों जैसे कर्मचारी भविष्यनिधि अधिनियम, 1952, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948, ग्रेच्युटी भुगतान अधिनियम, 1972, परिवार पेंशन प्रणाली, अनिवार्य अवकाश और छँटनी मुआवजा आदि को लागू करने में भूमिका अदा की। संगठित मज़दूर अनेक 'सीमांत लाभ' प्राप्त करने में भी

सफल हुए हैं जिनसे बेहतर जीवन स्तरों के लिए संघर्ष करने वाले मज़दूरों के अन्य हिस्से भी प्रेरित हुए हैं।

कुछ उद्योगों के लिए, जिनकी अपनी विशिष्टताएं हैं, प्रचलित अराजकता और अव्यवस्था ने कुछ विशेष क़ानूनों के लिए रास्ता तैयार किया है, यथा : बाग़ान मज़दूर अधिनियम, 1951, खान अधिनियम, 1955, गोदी मज़दूर अधिनियम, 1948, कार्यरत पत्रकार अधिनियम, 1951, मोटर यातायात मज़दूर अधिनियम, 1961, बीड़ी एवं सिगार मज़दूर अधिनियम, 1966, ठेका श्रम अधिनियम 1970, विक्रय प्रोत्साहन कर्मचारी अधिनियम, 1976, अनेक दुकान एवं प्रतिष्ठान अधिनियम, आदि।

लगभग सभी स्थितियों में क्रियान्वयन की सीमा ट्रेड यूनियनों की शक्ति और सजगता तथा उनके निरन्तर संघर्षों पर निर्भर करती है। ठेका मज़दूरों के संदर्भ में—जोकि औद्योगिक, व्यापारिक एवं निर्माण क्रियाओं के सभी क्षेत्रों में तेज़ी से फलफूल रहा है—अधिनियम के प्रावधानों को अनदेखा कर दिया जाता है और क़ानून का वास्तविकता में बिल्कुल भी पालन नहीं किया जाता।

इस दौरान ट्रेड यूनियन संघर्ष केवल आर्थिक माँगों तक ही सीमित नहीं थे। उन्हें प्रमुख नीतिगत मुद्दों पर भी चलाया गया था।

सार्वजनिक क्षेत्र के सवाल पर एटक ने पहली बार सकारात्मक रुख अपनाया जबकि ट्रेड यूनियन आंदोलन में कुछ दूसरे तबक़े या तो इसके प्रति उदासीन रहे या फिर उन्होंने संकीर्णतावादी शत्रुता का रुख अपनाया। एर्नाकुलम अधिवेशन (1957) में इसने सार्वजनिक क्षेत्र की रक्षा करने और इसका विस्तार करने और साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र में मज़दूरों के अधिकारों व माँगों के लिए संघर्ष की सुपरिचित 'दोहरी नीति' को अपनाया। यह प्रवृत्ति थी जिसने एटक और ट्रेड यूनियन आंदोलन को कुछ उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और एक स्पष्ट दृष्टि के साथ सरकार द्वारा 'बीमार इकाइयों' के अधिग्रहण के लिए संघर्ष करने योग्य बनाया।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ ने, जिसे एटक का समर्थन प्राप्त था, एक निर्णायक भूमिका अदा की। यह राष्ट्रीय आंदोलन की ही एक माँग रही थी। मगर यह अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ ही था जिसने 1963 में इस मुद्दे को फिर से उठाया और 1964 में संघर्ष द्वारा इसे सहारा दिया। बढ़ती हुई माँग को देखते हुए 1968 में तत्कालीन वित्तमंत्री मोरारजी देसाई ने 'सामाजिक नियंत्रण' का झाँसा दिया जिसका वास्तविक आशय इज़ारेदारों को खुला अवसर प्रदान करना और कर्मचारियों को ज़ंजीरों में बाँध देना था। सामाजिक नियंत्रण प्रस्ताव के खिलाफ़ अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ की हड़ताल संसद के अन्दर संघर्ष और कांग्रेस के भीतर अंदरूनी झगड़ों ने मोरारजी देसाई की बेदखली, प्रस्ताव के विघटन और 19 जुलाई, 1969 को

बैंकों के राष्ट्रीयकरण में अपना योगदान दिया।

एटक का यह पक्का मत था कि एक ऐसे देश में जहाँ राज्य स्वयं में एक पूँजीवादी राज्य है और जो पूँजीवाद का निर्माण कर रहा है, वहाँ सार्वजनिक क्षेत्र किसी भी रूप में समाजवादी क्षेत्र नहीं है। यह एक राज्य-पूँजीवादी क्षेत्र है। लेकिन प्रस्तुत संदर्भ में इसका एक साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र है, यह स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था का निर्माण करने में मदद करता है और आत्मनिर्भरता को मज़बूत करता है। इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर इसने एटक को वाम और दक्षिण, दोनों प्रकार के भटकावों से लड़ने के लिए सक्षम बताया है।

आज के संदर्भ में, जबकि सरकार सार्वजनिक क्षेत्र का दर्जा गिराने का प्रयास कर रही है, सार्वजनिक क्षेत्र की रक्षा करने, इसका विस्तार और सार्वजनिक क्षेत्र का जनतंत्रीकरण करने का बड़ा ज़बर्दस्त महत्व है जैसाकि हम आगामी पाठों में देखेंगे।

आर्थिक और राजनीतिक संकट के बढ़ने के साथ ही पूँजीपति वर्ग ने मज़दूर वर्ग पर हमलों को बढ़ाकर अपने ही समाधान खोजने की कोशिश की है। मज़दूरों का एकत्रित रोष 1974 की रेलवे कर्मचारियों की, जो अकेले एक ही उद्योग में कर्मचारियों का सबसे बड़ा अंग हैं, जुझारू हड़ताल के रूप में अभिव्यक्त हुआ। संघर्ष के संयुक्त मंच के रूप में रेलवे-कर्मचारियों के संघर्ष की राष्ट्रीय अभियान समिति का गठन किया गया और सिवा इंटक के, इसे सभी ट्रेड यूनियनों का समर्थन मिला। ज़बर्दस्त दमन की वजह से 11 दिनों के बाद संघर्ष को वापस लेना पड़ा। एटक के अनुयायी संघर्ष में फँसे हुए थे और दमन व उत्पीड़न सबसे ज़्यादा उन्हें ही सहना पड़ा। मगर दुर्भाग्यवश इस बहादुरीपूर्ण कार्य में, जिसमें हमने एक गौरवपूर्ण भूमिका निभायी थी, सही नीतिगत दृष्टिकोण नहीं था, जिसके फलस्वरूप एटक इस संघर्ष के परिणामों से न लाभ उठा सका, न ही इसे आगे बढ़ा सका।

ग़लत राजनीतिक दृष्टिकोण, जिससे उस वक़्त नेतृत्व ग्रस्त था, 1975 में श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा लगाये गये आपातकाल को एटक के प्रारम्भिक समर्थन की तह में मौजूद था। सरकार द्वारा मज़दूरों पर दमन तेज़ कर दिया गया। अनिवार्य जमा योजना शुरू की गयी। बोनस पर हमला हुआ। सरकार ने 'लाभ नहीं तो बोनस नहीं' फ़ार्मूले का प्रचार किया। वेतन-जाम थोप दिया गया। एटक के जुझारू योद्धाओं समेत ट्रेड यूनियनवादियों के ख़िलाफ़ मीसा का प्रयोग किया गया। शीघ्र ही, आपातकाल पूर्ण रूप से उत्पादन-विरोधी साबित होने लगा। इसने पूँजीपति वर्ग को कोई रास्ता नहीं सुझाया। 1976 के अन्त तक मज़दूरों के हड़ताल और संघर्ष, जो वस्तुतः कभी पूरी तरह नहीं बुझ पाये थे, फिर तेज़ी से शुरू हो गये। दक्षिणपंथी ताक़तों के एक सम्मिश्रण द्वारा इस फूट पड़ते आक्रोश

का नेतृत्व व इस्तेमाल कर लिया गया। इससे आपातकाल के हटाये जाने के साथ जनता पार्टी सत्ता में आ गयी।

जनता शासन के दौरान मज़दूरों द्वारा हासिल की गयी उपलब्धियों को छीन लेने और मज़दूरों की क़ीमत पर पूंजीवादी संकट को हल करने के प्रयास बिना किसी रुकावट के ज़ारी रहे।

वेतन-जाम हेतु भूतलिंगम पेनल द्वारा की गयी सिफ़ारिशों को थोप देने का प्रयास हुआ। 28 जून, 1978 को सार्वजनिक क्षेत्र में इसके विरोध में हड़ताल के संयुक्त आह्वान ने ही सरकार को आख़िरी क्षणों में पीछे हटने के लिए विवश किया। अगला लक्ष्य बैंक कर्मचारी थे जिन पर 'उच्च-वेतन द्वीप-निवासी' का लेबुल लगा हुआ था और जिनका महँगाई भत्ता फ़ार्मूला संशोधित किया जाने वाला था। अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ द्वारा प्रस्तुत जुझारू मोर्चे ने, जिसे सारे ट्रेड यूनियन आंदोलन की भाईचारापूर्ण कार्रवाइयों द्वारा समर्थन मिला, सरकार को यह सब न करने के लिए मजबूर कर दिया। दो लाख से ज्यादा जूट मज़दूरों को अपनी माँगों के लिए 50 दिन लम्बी हड़ताल चलानी पड़ी। 20 मार्च, 1979 को संसद के सामने तीन लाख से ज्यादा खेत-मज़दूरों के ज़बर्दस्त प्रदर्शन के साथ ही एक नया तत्व दृश्यपटल पर उभरा। इसने दिखाया कि हमारी जनता का सबसे ज्यादा शोषित हिस्सा, ग्रामीण सर्वहारा, संघर्ष करने वालों की क़तारों में शामिल हो गया है और उसने संगठन और संघर्ष का रास्ता अख्तियार कर लिया है।

औद्योगिक संबंधों का प्रश्न मज़दूरों और पूंजीवादी राज्य द्वारा समर्पित पूंजीपतियों के बीच निरन्तर 'गुरिल्ला युद्ध' का स्रोत रहा है, स्पष्टत: क्योंकि जारी वर्ग-संघर्ष दिन-प्रतिदिन इसी रूप में अभिव्यक्त होता है। सर्वाधिक विवादास्पद मुद्दे यूनियनों के पंजीकरण और मान्यता की परिस्थितियों के संबंध में, यूनियन के आंतरिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप के संबंध में, सत्यापन या मतपत्र के संबंध में, हड़ताल के अधिकार और विवादों को सुलझाने के तरीक़ों के बारे में होते हैं। सारे देश पर इस प्रकार के मज़दूर-विरोधी औद्योगिक संबंध क़ानून थोपने के इस दौरान अनेक निष्फल प्रयास किये गये।

1978 में, जनता शासन के दौरान, इसने एक अभूतपूर्व शक्तिशाली और संयुक्त संघर्ष को जन्म दिया। 19 नवम्बर, 1978 को दिल्ली में एक बड़ा संयुक्त अधिवेशन हुआ जिसके अगले दिन संसद की ओर चार लाख लोगों ने मार्च किया। इस विरोध को देखते हुए, प्रस्ताव को नहीं रखा जा सका। जनता सरकार के पतन के साथ यह रद्द हो गया।

मगर 1980 में इन्दिरा गांधी की सत्ता में वापसी के साथ ही ये प्रयास फिर शुरू हो गये। राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम और आवश्यक सेवाएँ अनुरक्षण अधिनियम

पारित कर दिये गये। जीवन बीमा निगम के कर्मचारियों को सौदेबाज़ी के अधिकार से वंचित करते हुए एक अध्यादेश (जो बाद में अधिनियम बना) जारी किया गया। भूतलिंगम पैनल की सिफ़ारिशों (जिन्हें जनता शासन में जारी किया गया) और वेतन-जाम के बारे मे सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो के निर्देशों या केवल सीमांत वृद्धि को ही लागू किया गया। अनेक निर्देशित मूल्य वृद्धियाँ भी हुईं।

सभी तबक़ों के द्वारा, इन क़ानूनों के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त हड़ताली संघर्ष किये गये। 1980-81 के दौरान बँगलौर और हैदराबाद स्थित सार्वजनिक क्षेत्र इंजीनियरी कर्मचारियों द्वारा 77 दिनों तक चलायी गयी हड़ताल उनमें सर्व-प्रमुख थी।

ट्रेड यूनियन अधिकारों पर सरकारी हमलों और इसकी मज़दूरी नियंत्रण व मूल्य वृद्धि की नीति के विरुद्ध इन संघर्षों ने ही 4 जून, 1981 के बम्बई अधिवेशन की पृष्ठभूमि निर्मित की जिसने इंटक को छोड़कर सभी ट्रेड यूनियनों समेत राष्ट्रीय अभियान समिति को जन्म दिया। हमारे ट्रेड यूनियन आंदोलन में उपलब्ध की गयी एकता की वर्तमान स्थिति के अनुरूप इस महत्वपूर्ण विकास को अगस्त 1983 में दिल्ली में हुए द्वितीय राष्ट्रीय अधिवेशन में आगे बढ़ाया गया है। तब से राष्ट्रीय अभियान समिति को और आगे बढ़ाया गया है और यह प्रक्रिया अभी ज़ारी है। आर्थिक स्थिति और इस संदर्भ में सरकारी नीति ही दो लाख से ज़्यादा कपड़ा मज़दूरों की डेढ़ वर्ष तक चलने वाली ऐतिहासिक बम्बई हड़ताल, राष्ट्रीय अभियान समिति के आह्वान पर 19 जनवरी, 1982 को देशव्यापी आम हड़ताल और मज़दूरों की अनेक दूसरी शानदार और संयुक्त हड़ताली कार्रवाइयों के लिए ज़िम्मेदार थीं।

राजीव गांधी सरकार के सत्ता में आने से ये कार्रवाइयाँ और तीव्र हुई हैं और इसकी नयी आर्थिक नीतियों व देश में गंभीर राजनीतिक परिस्थिति के कारण इन्हें एक नया आयाम प्राप्त हुआ है। 25 फ़रवरी के 'भारत बन्द' इससे पूर्व 1986 में कुछ राज्यों में हुए बन्द, और 21 व 22 अक्तूबर को हुए सार्वजनिक क्षेत्र अधिवेशन जिसने 21 जनवरी, 1987 को सार्वजनिक क्षेत्र के मज़दूरों द्वारा सफ़ल देशव्यापी हड़ताल का आह्वान किया, आगामी दिनों में ट्रेड यूनियन संघर्षों की गुणात्मक रूप से उच्चतर स्थिति का पूर्वसंकेत हैं।

ज़रूर पढ़ें :

1. बोनस समिति को प्रस्तुत एटक का माँग पत्र
2. राष्ट्रीय श्रम आयोग को प्रस्तुत एटक का माँगपत्र
3. एटक के 31वें अधिवेशन में प्रस्तुत महासचिव की रिपोर्ट
4. एटक के 32वें अधिवेशन में प्रस्तुत महासचिव की रिपोर्ट

पाठ : 7

संक्षिप्त निष्कर्ष

हमारे देश में पहला आधुनिक कारख़ाना, मिल या उद्योग प्रारम्भ हुए एक शताब्दी और तीन दशकों से ज़्यादा समय व्यतीत हो चुका है। पहली ट्रेड यूनियन की स्थापना को 80 वर्ष और एटक की स्थापना को 67 वर्ष हो गये हैं। इन वर्षों में मज़दूर वर्ग और इसकी ट्रेड यूनियनें कितना फ़ासला तय कर चुकी हैं?

एक शताब्दी पूर्व औद्योगिक क्षेत्र में कोई क़ानून नहीं चलता था। यह जंगल-क़ानून, असीमित काम के घंटे, बिना किसी रोकथाम के आदमियों, औरतों और बच्चों के शोषण का दौर था। ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग सत्ता पर काबिज़ था और भारतीय पूँजीपति वर्ग का भी, एक वर्ग के रूप में उदय हो चुका था। मज़दूर निर्धनों, मरणासन्न भारतीय समाज के दूसरे वर्गों से आने वाले तबाह लोगों का समूह था जो मिलों, कर्मशालाओं, खानों और रेलमार्गों में भटकता फिरता था। उन्हें अभी तक एक वर्ग बनना था। जब कभी भी उन पर मुसीबत आयीं, वे भय-मिश्रित स्वाभाविक युयुत्सा के साथ, मगर बिना किसी संगठन के लड़े। यह उनके पारंपरिक संबंध व साझी मुसीबतें ही थीं, जिन्होंने उन्हें जोड़े रखा। उन्होंने कारखानों में जमा हो गये किसानों की तरह व्यवहार किया।

राष्ट्रीय जागरण और राष्ट्रीय संघर्ष ने उन्हें वाणी दी। सामाजिक व राष्ट्रीय आंदोलन से आने वाले 'बाहरी व्यक्तियों' ने उनको एक स्थायी संगठन बनाने में मदद की, संघर्ष के लिए उन्हें एक लक्ष्य दिखाया और एकजुट होकर लड़ने के लिए एक समान परिचित शत्रु दिखाया। वे एक वर्ग के रूप में विकसित होने लगे।

कम्युनिस्टों और समाजवादियों के प्रवेश ने उन्हें वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष के दाँवपेच सीखने में मदद की, उनमें विजय के प्रति विश्वास भरा, उन्हें एक क्रांतिकारी ध्वजा और अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे का नारा 'दुनिया के मज़दूरो, एक हो' प्रदान किया।

हर कहीं मज़दूर अपना 'महाभारत' कार्यदिवस को सीमित किये जाने के

संघर्ष से प्रारंभ करते हैं, क्योंकि 19वीं शताब्दी में असीमित कार्यदिवस बेरोक शोषण का पर्याय है। '8 घंटे का दिन' पहली पताका है जो एक शताब्दी पूर्व मज़दूरों द्वारा फहराई गयी थी। हमारे देश में भी इसी तरह शुरुआत हुई। फ़ैक्टरी अधिनियम, 1881 पास कर दिया गया। वह एक शुरुआत थी। और जैसा कि 1952 में एस० ए० डांगे ने लिखा, "सौ वर्ष पहले मज़दूर के पास 6 घंटे भी उनके अपने नहीं हुआ करते थे। उसका सारा समय पूँजीपति वर्ग के लिए मुनाफ़ा पैदा करने हेतु मज़दूरी का समय था। अब 8 घंटे मज़दूरी का समय है और 16 घंटे उसके अपने हैं।"

इसके बाद संगठित होने के मौलिक अधिकार के मुद्दे पर संघर्ष आगे बढ़ता है। क्या उसे संघ बनाने के लिए अदालत में घसीट लिया जाना चाहिए और अपनी श्रमशक्ति मालिक को देने से इंकार करने के षड्यंत्र का आरोप मढ़ दिया जाना चाहिए, जिसे उसने मज़दूरी के बदले बेच देने का क़रार किया है, जोकि एक ऐसा अपराध है जिसका आरोप मद्रास में वाडिया (एनी बेसेंट का एक अनुयायी) पर लगाया गया? यह मुद्दा इंग्लैंड में तय किया गया और क़ानूनी तौर से, मज़दूरों को अपनी ट्रेड यूनियनें बनाने का अधिकार दे दिया गया। भारतीय मज़दूर ने यह जीत भी हासिल की और भारतीय ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926 पारित कर दिया गया।

प्रारंभ में, उसकी मज़दूरी मालिक की सनकों और इच्छाओं पर निर्भर करती थी। मालिक मज़दूर से उधार कर लेता था, क्योंकि वह वस्तु को अपना बनाकर पहले उसकी क़ीमत वसूल करता था, मगर मज़दूर को काफ़ी बाद में भुगतान करता था। जहाँ तक जुर्मानों व सज़ाओं का सवाल है, उनकी कोई सीमा नहीं थी, उसने इसके लिए संघर्ष किया और मज़दूरी भुगतान अधिनियम, 1936 पारित करवा लिया।

यह मज़दूर की श्रमशक्ति थी जिसका पूँजीपति क्रय-विक्रय करता था। जब किसी दुर्घटना, मातृत्व, बीमारी या मौत से यह श्रमशक्ति मिलनी बंद हो जाती थी, पूँजीपति पर कोई संविदात्मक ज़िम्मेदारी नहीं होती थी। मज़दूर लड़े और पूँजीपति को यह महसूस करना पड़ा कि श्रमक्ति के पुनरुत्पादन के लिए मज़दूर को स्वयं का पुनरुत्पादन करना होता है। परिणामस्वरूप, मज़दूर मुआवज़ा अधिनियम, मातृत्व लाभ अधिनियम लागू हुए।

आवश्यकता पर आधारित मज़दूरी, मूल्यवृद्धि के ख़िलाफ़ मुआवज़ा, व्यवसाय की सुरक्षा, बोनस, सामाजिक सुरक्षा, आदि के लिए संघर्ष चलते रहे। और हर बार, अपने लंबे संघर्ष में मज़दूरों ने नये कीर्तिमान कायम किये।

जीवंत इतिहास के अंग के रूप में, पिछले पाठों में हम इस सबका अध्ययन कर चुके हैं। कई दशकों के संघर्षपूर्ण इतिहास में मज़दूरों को जेल, लाठियाँ, पुलिस-

फ़ायरिंग, बर्खास्तगी और उत्पीड़न के रूप में भारी क़ीमत अदा करनी पड़ी। हमारे पूर्ववर्तियों और उनके परिवारों की परेशानियों की कोई सीमा नहीं है। ब्रिटिश शासन के दिनों से और उस दिन से जिस दिन भारतीय पूंजीवादी वर्ग ने सत्ता की लगाम हाथ में थामी है, हमारे बहुत बड़ी संख्या में लोग शहीद हुए हैं। हमारे बीच से मज़दूर वर्ग के असंख्य सक्रिय कार्यकर्ता पैदा हुए हैं जो देश के दूर-दराज़ के इलाक़ों में लाल झंडा ले गये और वहाँ उसे उन्होंने मज़बूती से गाड़ दिया, सफलताएँ भी मिली हैं और असफलताएँ भी। उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं :

—8 घंटे का दिन, और अतिरिक्त घंटों के लिए ओवरटाइम
—साप्ताहिक छुट्टी और सवेतन अवकाश
—भोजन के लिए मध्यांतर
—सवेतन अवकाश और आकस्मिक अवकाश
—समय पर मज़दूरी का भुगतान और जुर्मानों पर सीमा
—न्यूनतम मज़दूरी (हम जहाँ भी इसे लागू कर सकते हैं) और मानकीकृत वेतन निर्धारण
—मूल्यवृद्धि के विरुद्ध मुआवज़ा
—तालाबंदी और छँटनी मुआवज़ा
—बोनस
—सीमांत लाभ (जहाँ हम बेहतर रूप से संगठित हैं)
—दुर्घटना, बीमारी या मौत के विरुद्ध बीमा
—मातृत्व लाभ
—बाल मज़दूरी पर प्रतिबंध तथा बाल मज़दूरों को संरक्षक
—सेवा-निवृत्ति और वृद्धावस्था के लिए भविष्यनिधि, ग्रेच्युटी और पेंशन संबंधी लाभ
—विशिष्ट उद्योगों में कार्य-संबंधी परिस्थितियों को नियंत्रित करने हेतु विशेष अधिनियम

जैसाकि हमने संकेत किया है, सफलताएँ भी मिली हैं, असफलताएँ भी। वस्तुत: अधिकांश हड़तालें सफल होने के बजाय असफल हुईं। मार्क्स ने काफ़ी समय पूर्व संकेत किया था, **"यदा-कदा मज़दूर विजय हासिल करते हैं, मगर कुछ समय के लिए ही। उनके संघर्ष का वास्तविक लाभ तात्कालिक परिणाम में नहीं, वरन् निरंतर विस्तृत होती मजदूरों की एकता में निहित होता है।"** (ज़ोर हमारा) अत:, यद्यपि हम अपने पूर्वजों द्वारा विरासत में सौंपे गये लाभों का सुख भोग रहे हैं, प्रमुख पैतृक संपत्ति 'निरंतर विस्तृत होती हुई मज़दूर-एकता है।' यही चीज़ है जिसे हमें ग्रहण करना और आगे विकसित करना है।

इस संबंध में क्या स्थिति है ? यहाँ हम एक तालिका दे रहे हैं जिसमें तीन

दशकों के दौरान यूनियनों और उनके सदस्यों की संख्या में वृद्धि को दिखाया गया है :

वर्ष	पंजीकृत ट्रेड यूनियनों की संख्या	वार्षिक विवरण देने वाली ट्रेड यूनियनों की संख्या	वार्षिक विवरण देने वाली यूनियनों की सदस्यता (हज़ारों में) पुरुष	स्त्री	योग
1951-52	4,323	2,556 (55.3)	1,847 (93.2)	136 (6.8)	1,996
1961-62	11,614	7,087 (61.0)	3,607 (90.7)	370 (9.3)	3,977
1965	13,248	6,932 (52.3)	3,565 (94.1)	223 (5.9)	3,788
1970	20 879	8,537 (40.9)	4,699 (91.8)	421 (8.2)	5,120
1975	29,438	10,324 (35.1)	6,063 (92.6)	488 (7.4)	6,550
1979	32,361	8,727 (28.5)	5,771 (93.0)	433 (7.0)	6,203
1980	35,750	4,426 (21.6)	2,505 (94.1)	158 (5.9)	2,663

अनेक राज्यों से आँकड़ों के प्रभाव के कारण और कुछ दूसरे राज्यों से काम-चलाऊ आँकड़े प्राप्त होने के कारण 1978 और 1980 के आँकड़ों को छोड़ दिया गया है। 1981 की जनगणना के अनुसार निम्न आँकड़े उपलब्ध हैं :

1. कुल श्रमशक्ति — 24 करोड़ 46 लाख
2. यूनियनों की कुल सदस्यता — 77 लाख
3. कुल ग़ैर-खेतिहर श्रमशक्ति — 6 करोड़ 68 लाख
4. कुल श्रमशक्तियों के प्रतिशत के रूप में संघीकरण — 3 प्रतिशत
5. ग़ैर-खेतिहर श्रमशक्ति के प्रतिशत के रूप में संघीकरण — 11.5 प्रतिशत

दोनों तालिकाओं के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(i) तीन दशकों में, विशेषतया 1955 और 1975 के बीच यूनियनों की संख्या लगभग 8 गुनी बढ़ गयी है। उसके बाद, एक निश्चित सीमा तक पहुँचकर यह संख्या रुक गयी है।

(ii) सदस्यता केवल 3.8 गुनी ही बढ़ी है। इसका तात्पर्य यह है कि अपेक्षतया कम सदस्यता वाली यूनियनों की संख्या तेजी से बढ़ रही है।

(iii) संघीकृत मज़दूरों का प्रतिशत अभी भी बहुत कम है। अभी तक असंगठित मज़दूरों के विशाल समूह को संगठन में लाने के लिए ट्रेड यूनियनों, विशेषकर संगठित मज़दूरों को, महत प्रयास करने होंगे।

(iv) स्त्री सदस्यों का प्रतिशत बहुत कम है और व्यापक उतार-चढ़ावों से युक्त है, जो उनकी सदस्यता की अस्थिरता को दर्शाता है।

(v) आधे से अधिक पंजीकृत ट्रेड यूनियनें नियमित रूप से अपना वार्षिक विवरण प्रस्तुत नहीं करतीं, यह उनकी दोषपूर्ण और अनियमित कार्यप्रणाली का द्योतक है। यह कुल सदस्यता, वित्तीय स्थिरता आदि के समग्र आकलन को मुश्किल भी बनाता है। रजिस्ट्रार के दफ़्तर की योग्यता पर निर्भर करते हुए जो यूनियनें विवरण प्रस्तुत नहीं करतीं, मृत घोषित कर दी जाती हैं और सूची से उन्हें निकाल दिया जाता है। पिछले वर्षों में, इस संबंध में कोई सुधार नहीं हुआ है,बल्कि गिरावट ही आयी है।

"मज़दूरों की निरंतर विस्तृत होती एकता" के बारे में मार्क्स के कथन का इस तरह अक्षरशः पालन नहीं हो पा रहा है।

बहरहाल हाल ही में, जो व्यापक एकता प्राप्त की गयी है, उसने मज़दूरों, राष्ट्रीय आर्थिक व राजनीतिक मुद्दों, यहाँ तक कि मूल्यवृद्धि, आर्थिक नीतियाँ, संसदीय लोकतंत्र और जनतांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा, विभाजक व अलगाववादी ताक़तों के विरुद्ध, साम्राज्यवादी षड्यंत्रों के विरुद्ध शांति की सुरक्षा आदि जैसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर सामूहिक कार्रवाइयाँ चलाने के लिए मज़दूरों में आत्मविश्वास उत्पन्न किया है। एटक और अन्य वामपंथी यूनियनें प्रवर्तक और प्रमुख संगठनकर्ता रही हैं, मगर इन कार्रवाइयों में राष्ट्रीय अभियान समिति को संपूर्ण रूप में शामिल किया गया है, और हाल ही में, बहुत-सी संयुक्त कार्रवाइयों में इंटक को भी खींच लिया गया है। सामाजिक शक्ति के रूप में ट्रेड यूनियनों की प्रवर्तनकारी व नेतृत्वकारी भूमिका स्पष्ट हो रही है। यदि ट्रेड यूनियन आंदोलन संगठित हों और ज़्यादा ताक़तवर व अधिक व्यापक आधारवाला संगठन हो, तो यह और अधिक हो जाए।[1]

अब हम इतिहास से कुछ सबक़ सीख सकते हैं :

पहला, सभी उपलब्धियाँ संघर्षों और बलिदानों के फलस्वरूप प्राप्त हुई हैं।

इन संघर्षों और बलिदानों के कारण ही मज़दूर वर्ग वह बन सका है, जो वह आज है।

दूसरा, 1947 तक विदेशी शासकों ने, और उसके बाद भारतीय पूँजीपति-वर्ग और राज्य ने हर क़दम पर मज़दूर वर्ग और बेहतर स्थितियों के लिए इसके संघर्ष का द्वेषपूर्ण विरोध किया है।

तीसरा, मज़दूरों के लिए लाभप्रद अधिनियम, अधिसूचनाएँ, पुरस्कार आदि भी तभी कार्यान्वित होते हैं जब मज़दूर और उनके संगठन चौकस और सक्रिय हों और उन्हें लागू करवाने के लिए वे संघर्ष करें।

चौथा, एक यूनियन के भीतर या कई यूनियनों की संयुक्त कार्रवाइयों के द्वारा जब कभी अधिकतम संभावित एकता उपलब्ध होती है, मज़दूरों के संघर्ष प्रभावपूर्ण होने लगते हैं। फूट संघर्षों में बाधा पहुँचाती है और उन्हें प्रभावशून्य बना देती है अगर उन परिस्थितियों में उन्हें छेड़ा जाए।

पाँचवाँ, जब कभी तात्कालिक या आंशिक माँगों को नीतिगत प्रश्नों पर संघर्षों से जोड़ा गया है या दूसरे शब्दों में ये संघर्ष शासक वर्ग के ख़िलाफ़ राजनीतिक संघर्षों में तब्दील हुए हैं, उन्होंने व्यापक सफलताएं हासिल की हैं और वास्तविक लाभ प्राप्त हुए हैं। यह विश्वास कि एक संघर्ष को 'विशुद्ध मज़दूर हितों' के लिए विशुद्ध आर्थिक संघर्ष के रूप में सीमित रखना और इसे राजनीति से अलग व अप्रभावित रखना बेहतर परिणामों को सुनिश्चित करता है, एक ज़बर्दस्त भूल साबित हुई है।

छठा, जहाँ कहीं मज़दूर एक वर्ग के रूप में आगे बढ़े हैं और उन्हें कम्युनिस्टों जैसे वर्ग चेतस राजनीतिक हिरावल दस्ते का नेतृत्व मिला है, संघर्ष अधिक संगठित, उद्देश्यपूर्ण और बेहतर ढंग से संचालित हुए हैं। जहाँ कहीं सुधारवादी व्यक्तियों, राजनीतिक दुस्साहसवादियों और सभी क़िस्मों के रूढ़िवादियों के हाथ में नेतृत्व रहा है, संघर्ष परिणामशून्य रहे हैं अथवा आशा के अनुकूल हो जाने में असफल रहे हैं, चाहे आरम्भ में वे कितने ही व्यापक आधार वाले और जुझारू क्यों न रहे हों।

सातवाँ, ट्रेड यूनियन संघर्ष, जिन्हें लोगों की व्यापक सहानुभूति हासिल हुई है और जो किसानों और कामगार समूहों के दूसरे तबक़ों से एकता और समर्थन जुटा पाने में सफल रहे हैं, साधारणतया सफल रहे हैं।

आठवाँ, मज़दूरों के ठीक प्रकार से संचालित और संयुक्त संघर्षों ने अंतर्राष्ट्रीय दिलचस्पी और सहानुभूति पैदा की है। उस वक़्त जबकि भारतीय मज़दूरों ने शांति, रंगभेद-विरोध, मुक्ति संघर्षों को समर्थन जैसे अंतर्राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर आवाज़ उठायी है, अंतर्राष्ट्रीय भाई-चारे के संबंध मज़बूत हुए हैं।

नवाँ, राजनीतिक और सामूहिक विषयों पर हमारे देश के मज़दूर वर्ग की

कार्रवाइयों ने उन्हें लोकतंत्र, राष्ट्रीय एकता और सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष के हिरावल दस्ते के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

टिप्पणी :

1. ट्रेड यूनियन एकता के और अधिकतम संभावित एकता तथा संयुक्त कार्रवाइयों के लिए संघर्ष का इस पुस्तक के तीसरे भाग में वर्णन किया गया है।

जरूर पढ़ें :

1. मज़दूर वर्ग की सौ वर्षों की उपलब्धि : एस०ए० डांगे

पाठ : 8

भारतीय मज़दूर और अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन आंदोलन

1764 के आसपास चरखे के आविष्कार से, जिसके बाद एक के बाद एक अनेक दूसरे आविष्कार हुए, औद्योगिक क्रांति की शुरुआत होती है। उत्पादन के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो चुका था और वे एक ऐसी स्थिति में पहुँच चुके थे जहाँ फ़ैक्टरी उत्पादन बड़े पैमाने पर होना प्रारंभ हुआ। प्राचीन सामंती व्यवस्था और उत्पादन संबंधों को तोड़ दिया गया और दो वर्गों—पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग—को जन्म देते हुए नये पूँजीवादी उत्पादन संबंधों ने उनकी जगह ली।

औद्योगिक क्रांति का जन्मस्थल, इंगलैंड, दुनिया की कार्यशाला बन गया। पूँजीवादी शोषण के साथ ही मज़दूरों—इंगलैंड के गर्म दल के सदस्यों—का प्रतिरोध, तथा मज़दूरों के दंगे और विद्रोह शुरू हो गये। गिल्ड और दस्तकार संगठन, पारस्परिक सहायता संगठन और संघ मज़दूरों के सम्मिश्रण का आरंभिक बिन्दु बन गये। संघ-विरोधी अधिनियम के ज़रिये पूँजीपति वर्ग ने जवाबी हमला किया। हड़तालों की लहर के बाद 1824 में इसे रद्द करना पड़ा।

लंदन कामगार संघ द्वारा आरम्भ किये गये चार्टिस्ट आंदोलन ने सार्विक वयस्क मताधिकार, गुप्त मतपत्र आदि जैसी राजनीतिक माँगों को उठाकर ट्रेड यूनियन आंदोलन को पूर्ण किया।

यूरोप महाद्वीप में औद्योगीकरण पिछड़ गया और इस तरह वहाँ ट्रेड यूनियनवाद देरी से पैदा हुआ। 1848 में अनेक देशों में हुई क्रांतियों ने इस विकास को आगे बढ़ाया। इसी समय, मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र जारी किया, जिसका समापन इस एकजुटता वाले आह्वान के साथ हुआ "दुनिया के मज़दूरो, एक हो।"

प्रारंभ से ही, मज़दूर वर्ग आंदोलन के जनक ने पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध अपने संघर्ष में आंदोलन के अंतर्राष्ट्रीय चरित्र पर बल दिया था। 1864 में,

विशेषकर मार्क्स की पहलक़दमी पर, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ (प्रथम इंटरनेशनल) स्थापित किया गया। राष्ट्रीय पैमाने पर एकजुट होने की दिशा में ट्रेड यूनियनों की शुरुआत हो रही थी। उदाहरण के लिए, 1868 में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। न केवल इस बारे में लिखना, बल्कि मज़दूरों के अंतर्राष्ट्रीय संघ के निर्माण की दिशा में पहले व्यावहारिक क़दम उठाना मार्क्स और एंगेल्स की दूरदर्शिता पर निर्भर था। प्रारम्भिक गठन काल में, जबकि अनेक देशों में ट्रेड यूनियनें अभी पैदा भी नहीं हुई थीं, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ विशुद्धतः एक ट्रेड यूनियन संगठन नहीं था, न हो सकता था। मगर पहले ही 1869 में अपनी चौथी कांग्रेस में निम्न-लिखित शब्दों में इसने प्रस्ताव रखा।

"यह मानते हुए कि श्रम और पूंजी का अंतर्राष्ट्रीय चरित्र ट्रेड यूनियनों के एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की माँग करता है, कांग्रेस साधारण समिति को ट्रेड यूनियनों के एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण करने का दायित्व सौंपती है।"

प्रथम इंटरनेशनल लंबे समय तक इस निर्देश का पालन नहीं कर सकी। बहर-हाल, इसने "क़ानूनी सीमा के रूप में आठ घंटे का कार्यदिवस", व्यापक फ़ैक्टरी क़ानून, उच्चतर मज़दूरी, स्त्री और बाल-श्रमिकों की सुरक्षा जैसे नारों को विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया, जो अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन आंदोलन का प्रारम्भिक बिन्दु बने। 1871 में पहले मज़दूर राज्य, 'पेरिस कम्यून' ने उनमें से अनेक नारों को कार्यान्वित किया। मगर 3 माह के भीतर ही पूंजीवादी वर्ग द्वारा इसे रक्त में डुबो दिया गया।

मई 1886 में, संयुक्त राज्य अमेरिका के बड़े औद्योगिक केंद्रों में, (वह देश, जहाँ यूरोप के बहुत से पारंपरिक पूंजीवादी देशों को पीछे छोड़ता हुआ सर्वाधिक तीव्रगति से पूंजीवादी विकास प्रारंभ हो चुका था। 8 घंटे के कार्यदिवस के लिए सामूहिक मज़दूर कार्रवाइयाँ हुईं। संपूर्ण संयुक्त राज्य अमेरिका में 1 मई, 1886 को एक हड़ताल हुई, और शिकागो में मिशिगन एवेन्यू में एक प्रभावशाली जुलूस निकाला गया।

4 मई को, जब पहले दिन की पुलिस निर्दयताओं के ख़िलाफ़ हे मार्केट स्क्वायर में मज़दूर एक सभा कर रहे थे, एक भड़काने वाली कार्रवाई की गयी, शांतिपूर्ण भीड़ पर पुलिस द्वारा अंधाधुंध गोलीबारी की गयी। 6 लोग मौक़े पर ही मारे गये (4 पहले दिन मरे थे) और 200 घायल हो गये। दुर्घटना के बाद सैंकड़ों लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया और उनमें से 8 पर मुक़दमा चलाया गया। आठों के विरुद्ध एक भी सबूत नहीं था और जब घटना घटी, उस समय केवल एक ही व्यक्ति स्थल पर मौजूद था। इसके बावजूद, उन सबको कठोर सज़ाएँ हुईं। पाँच को फाँसी होनी थी, मगर उनमें से एक जेल के भीतर ही मर गया और इस तरह फाँसी से बच गया। काले शुक्रवार (11 नवम्बर, 1887) के दिन अन्य चारों— अल्बर्ट

पार्सन्स, ऑगस्टस स्पाइज़, जॉर्ज एंगिल और एडोल्फ़ फ़िशर को फाँसी दे दी गयी। उन्होंने बहादुरी से फाँसी के तख़्ते का वरण किया और उनके शब्द, जो जल्लाद द्वारा उनके गलों में फंदा कस दिये जाने के बाद कहे गये थे, दंतकथा बन चुके हैं। स्पाइज़ चिल्लाया, "समय आएगा जब हमारी चुप्पी उन आवाज़ों से ज़्यादा शक्तिशाली होगी जिन्हें तुम आज घोट रहे हो—" सबसे आखिर में पार्सन्स बोला, "ओ अमेरिका के लोगो! मुझे बोलने दो···लोगों की आवाज़ सुनी जाए···!" इसी समय फंदा लगा दिया गया और आवाज़ बंद हो गयी।

अपने नायकों को अंतिम सम्मान देने के लिए पाँच लाख से ज़्यादा लोगों ने जुलूस निकाला।

सौ वर्ष पूर्व शिकागो में घटी घटनाओं ने विश्व मज़दूर आंदोलन की मई दिवस परंपरा को जन्म दिया। 18 जुलाई, 1889 को दूसरे इंटरनेशनल की पेरिस कांग्रेस ने 1 मई को मज़दूर-एकजुटता का अंतर्राष्ट्रीय दिवस घोषित करने के पक्ष में मत दिया। 1 मई, 1890 सभी यूरोपीय देशों और अमेरिका में अच्छी तरह मनाया गया। फ्रेडरिक एंगेल्स ने इसके बारे में लिखा: "आज···यूरोपीय और अमेरिकी सर्वहारा पहली बार एक ही ध्वजा के नीचे, एक तात्कालिक उद्देश्य के लिए, एक सेना के रूप में लामबंद अपनी संघर्षशील शक्तियों की समीक्षा कर रहा है···और आज का यह चमत्कार सारे देशों के पूँजीपतियों और भूस्वामियों की आँखें इस वास्तविकता की ओर खोल देगा कि आज सभी देशों के मज़दूर वास्तव में एकजुट हैं।

"काश, मार्क्स आज मेरे बगल में यह सब अपनी आँखों से देखने के लिए होते।" (ज़ोर हमारा)

मई दिवस का जन्म मज़दूर आंदोलन के अंदर दो युगों के बीच की सीमारेखा का प्रतिनिधित्व करता था। सभी देशों के मज़दूरों की एकता का दिन मज़दूरों के अधिकारों के लिए संघर्ष से पैदा हुआ था। उनके खून और शहादत ने इसे गरिमा प्रदान की।

ट्रेड यूनियन आंदोलन दुनिया के बहुत से देशों में फैल गया। अनेक प्रयासों और अधिवेशनों के बाद, 1913 में ट्रेड यूनियनों के अंतर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना हुई, मगर आंदोलन के क्षैतिज विस्तार के साथ ही 'विशुद्ध और सामान्य' ट्रेड यूनियनवाद (ब्रिटेन), 'अराजक श्रमिक संघवाद', 'अवसरवाद' और 'संशोधनवाद' जैसी अनेक दक्षिणपंथी और वामपंथी पूँजीवादी और निम्न पूँजीवादी विचारधाराओं की घुसपैठ शुरू हो गयी, जो मज़दूर वर्ग आंदोलन में मार्क्सवादी प्रवृत्ति का विरोध करने के लिए तैयार थीं।

ट्रेड यूनियनों के अंतर्राष्ट्रीय संघ का दिवालियापन प्रथम विश्वयुद्ध, महान आर्थिक संकट (1929-32) और तदनंतर फ़ासीवाद के उदय के दौरान उजागर

हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध ने इसे प्रभावशाली तरीक़े से दफ़ना दिया।

उपरोक्त वर्णित सभी मार्क्सवाद विरोधी प्रवृत्तियों के विरुद्ध लेनिन को संघर्ष करना पड़ा। अक्तूबर क्रांति की विजय के बाद क्रांतिकारी अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संगठन के गठन के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। लाल अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने, जैसाकि इसे पुकारा जाता था, अनेक देशों में क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद के विचारों को फैलाने और इसके केंद्रबिंदु का निर्माण करने में अपनी भूमिका निभायी, लेकिन यूरोप में फ़ासीवाद के उभार और फ़ासीवाद को रोकने व युद्ध बंद करने हेतु एक संयुक्त मोर्चे का निर्माण करने के फ़ौरी कार्यभार ने एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जिसमें लाल अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ अपना पृथक अस्तित्व नहीं रख सका। 1937 में, इसे खत्म कर दिया गया।

फ़ासीवाद-विरोधी युद्ध के दबावों ने एक बार फिर अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन एकता का सवाल उठाया क्योंकि उस वक़्त कोई एक अकेला अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संगठन अस्तित्व में नहीं था।

अक्तूबर 1941 में स्थापित ब्रिटिश सोवियत ट्रेड यूनियन समिति की पहल-क़दमी पर एक विश्व ट्रेड यूनियन अधिवेशन फ़रवरी 1945 में हिटलर के फ़ासीवाद की पराजय के तीन माह पूर्व लंदन में हुआ जिसमें 40 से ज़्यादा देशों के ट्रेड यूनियन संगठन सम्मिलित हुए। उस अधिवेशन में एक नये विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की स्थापना का निश्चय किया गया।

25 सितम्बर से 9 अक्तूबर, 1945 के बीच पेरिस में ट्रेड यूनियनों के विश्व संघ की स्थापना कांग्रेस में हुई। यह अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन एकता की प्रक्रिया और फ़ासीवाद के खिलाफ़ विश्वव्यापी संघर्ष के दौरान उत्पन्न संयुक्त कार्रवाई का चरम बिंदु था। युद्ध खत्म हुआ ही था। आख़िरी वार कर दिया गया था। बहुत से देश बर्बाद हो गये थे। इसके बावजूद एक साथ श्रम और शांति की एक नयी दुनिया बनाने की इच्छा से 56 देशों के 6 करोड़ 70 लाख मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करने वाले 346 प्रतिनिधि इस कांग्रेस में सम्मिलित हुए। सिर्फ़ दक्षिण-पंथियों के प्रभुत्व वाले अमेरिकी मज़दूर संघ ने भाग लेने से इंकार कर दिया। 3 अक्तूबर, 1945 को इसके संविधान के पारित होने के साथ ही विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ के जन्म की औपचारिक घोषणा कर दी गयी। तब से, 3 अक्तूबर विश्व ट्रेड यूनियन संघ के रूप में मनाया जाता है।

जैसाकि प्रस्तावना में कहा गया है,

"विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ का उद्देश्य सभी देशों के लोगों के जीवन और कार्य की परिस्थितियों को बेहतर बनाना और सभी स्वतंत्रता प्रेमी जनगण द्वारा वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उन्हें एकजुट करना है···

"ये लक्ष्य और उद्देश्य केवल ऐसी विश्व-व्यवस्था की स्थापना द्वारा ही पूरी

तरह से प्राप्त किये जा सकते हैं जिसमें दुनिया के सभी संसाधनों का उपयोग उन सभी लोगों के लाभों के लिए किया जाएगा, जिसका बड़ा बहुमत हाथ और दिमाग़ से काम करने वाले मज़दूरों का है, जिसकी सुरक्षा और प्रगति सभी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठित ताक़तों की एकता पर निर्भर करती है।''[1]

विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की स्थापना उन सभी शक्तियों के लिए एक महान और ऐतिहासिक उपलब्धि है जिन्होंने ट्रेड यूनियन एकता के लिए संघर्ष किया है। मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका में इजारेदार पूँजीवादी क्षेत्रों ने, जिन्होंने युद्धोत्तर विश्व में चीज़ों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की अपनी नीति का पालन करना चाहा है, अपनी योजनाओं के मार्ग में विश्व ट्रेड यूनियन को एक बाधा के रूप में ही देखा है, अतएव मज़दूर वर्ग की इस अंतर्राष्ट्रीय एकता को तोड़ने के लिए अमेरिका मज़दूर संघ के प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपंथी नेताओं पर भरोसा किया है। उन्हीं के साथ घिसटते हुए ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस नेतृत्व और पश्चिमी यूरोप के उनके सहयोगियों ने 1949 के उत्तरार्ध में अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र ट्रेड यूनियन महासंघ नामक एक नये अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की।

बहरहाल, यह द्रष्टव्य है कि फ़ासीवाद पर विजय, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का उभार, विचारों और समाजवाद के प्रभावों में शक्तिशाली वृद्धि ने एशिया और लातीनी अमेरिका में ट्रेड यूनियनों के विकास में ज़बर्दस्त प्रोत्साहन दिया। तेज़ी से राष्ट्रीय व क्षेत्रीय केंद्र अस्तित्व में आने लगे। मज़दूरों के जीवंत हितों और ट्रेड यूनियन अधिकारों की दृढ़तापूर्वक हिमायत कर विश्व ट्रेड यूनियन संघ की विश्व-भर में मज़दूरों के बीच लगातार प्रतिष्ठा बढ़ी है। विश्व ट्रेड यूनियन संघ की औद्योगिक शाखाओं के रूप में ट्रेड यूनियन इंटरनेशनलों की स्थापना के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक और बड़ा क़दम उठाया गया। उनमें विश्व ट्रेड यूनियन संघ से संबद्ध संगठनों और उन देशों के असंबद्ध संगठनों को शामिल किया गया है, जिनमें विघटनकारी कार्रवाइयों ने इस तरह के संगठनों को विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ से पृथक रखा है। विभिन्न देशों में उद्योगों की सजातीय शाखाओं में मज़दूर वर्ग के हितों को थामे रखने, बेहतर स्थितियों के लिए संघर्ष को मदद करने, संघर्षकामी मज़दूरों को सहायता देने और उनके साथ एकता प्रदर्शित करने के लिए मज़दूरों की एकजुट करने का काम ट्रेड यूनियन इंटरनेशनल करता है।

अपने अस्तित्व के 40 वर्षों से ज्यादा समय के दौरान, जिसकी परिणति बर्लिन में सितम्बर 1986 में 11वीं कांग्रेस में हुई, विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की ताक़त सभी महाद्वीपों और समाज व्यवस्थाओं के 138 देशों के 21 करोड़ 40 लाख से ज्यादा मज़दूरों को एकजुट करके बढ़ी है। एकता के लिए इसके निरंतर और दृढ़ प्रयासों ने उन यूनियनों में नये रुझान पैदा किये हैं जो आज अंतर्राष्ट्रीय

स्वतंत्र ट्रेड यूनियन महासंघ और वर्कर्स कम्युनिस्ट लीग से संबद्ध हैं। इसने रंगभेद नीति के विरुद्ध संघर्ष में, विश्व शांति की सुरक्षा के लिए, एक परमाणु-मुक्त विश्व के लिए, पूर्ण नि:शस्त्रीकरण के लिए और एक नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था आदि के लिए परराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों के संबंध में विभिन्न विश्व केंद्रों से संबद्ध ट्रेड यूनियनों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय एकजुट और संयुक्त प्रयासों की नवीन संभावनाओं को खोला है।

मज़दूरों के एक वर्गीय संगठन के रूप में विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ एक शांतिपूर्ण श्रम की दुनिया के लिए संपूर्ण मज़दूर वर्ग की साझी युद्धविरोधी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। इसने आज तक शांति और सामाजिक प्रगति की शक्तियों को एकजुट करने, प्रत्येक साम्राज्यवादी युद्ध हथकंडे का ठोस रूप से सामना करने, हथियारों की दौड़ का विरोध करने और विकास के लिए संसाधनों को मुक्त करने, भूख और ग़रीबी हटाने आदि की नीति का अनुसरण किया है। विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की पहलक़दमी पर 1 सितम्बर शांति के लिए अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कार्रवाई दिवस के रूप में मनाया जाता है। इसने एकता में जन्म लेकर सदा एक-रूपता और उन विषयों की सामान्यता को सामने लाते हुए जो सभी देशों के मज़दूरों को उद्वेलित करते हैं, अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग और ट्रेड यूनियन एकता को अपरिमित रूप से मज़बूत बनाने का कार्य किया है। परमाणु युग की वास्तविकताएँ अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र ट्रेड यूनियन महासंघ को भी युद्ध और शांति के विषयों पर साम्राज्यवादी नीतियों के लिए अपने आरंभिक बिला शर्त समर्थन पर पुनर्विचार करने और परमाणु नि:शस्त्रीकरण के प्रश्न पर, साथ ही रंगभेद-नीति विरोधी संघर्ष तथा इसी प्रकार के अन्य मुद्दों पर एक सकारात्मक रुख अपनाने के लिए विवश कर रही हैं। इस प्रकार साझी अंतर्राष्ट्रीय कार्रवाई के लिए आधार व्यापक हो रहा है, यद्यपि आधिकारिक रूप से अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन महासंघ विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ के साथ किसी भी तरह की संयुक्त कार्रवाई करने का विरोध करता है।

1920 में अपने जन्म के बाद से एटक ने जिन विचारों को थामे रखा है, उनमें अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग भाईचारे का विचार भी सम्मिलित है। लाला लाजपतराय ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था : "आज हम जिस आंदोलन का श्रीगणेश कर रहे हैं, उसका राष्ट्रीय से भी अधिक महत्त्व है। यह एक अंतर्राष्ट्रीय महत्व की चीज़ है। भारत के मज़दूर केवल भारतीय श्रमिकों के हितों को मज़बूत बनाने के उद्देश्य से ही नहीं अपितु अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे की ज़ंजीर में एक कड़ी और जोड़ने के लिए हाथों और दिमाग़ों को जोड़ रहे हैं।"

बहरहाल, अंतर्राष्ट्रीय संबद्धता का सवाल एक उलझी हुई समस्या बना रहा। अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संघ ने, जिस पर ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सुधारवादी नेतृत्व का वर्चस्व था, औपनिवेशिक देशों की माँगों का समर्थन नहीं किया। अत:

अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संघ से संबद्ध होने का कोई प्रश्न ही नहीं था। दूसरी ओर, एटक के भीतर दक्षिण-संशोधनवादी और पूंजीवादी तबक़ा था, जो इसे लाल अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ से संबद्ध करने के लिए तैयार नहीं था। ऐसा करने के प्रयास ने वास्तव में 1931 में एटक में विघटन को प्रेरित किया। इस प्रकार एटक अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संघ और लाल अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ, दोनों से ही असंबद्ध रहा।

विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की स्थापना के दिन से ही एटक इससे संबद्ध रहा है। विश्व ट्रेड यूनियन संघ के कार्य में एटक प्रमुख भूमिका निभाता है। एशिया और प्रशांत क्षेत्र की ट्रेड यूनियनों को एकजुट करने और उनके केंद्र स्थापित करने में इसने प्रमुख भूमिका निभायी है।

भारत में दूसरे बड़े ट्रेड यूनियन केंद्रों द्वारा भी अब अंतर्राष्ट्रीय संबद्धता को अंगीकृत कर लिया गया है। मगर जैसेकि विघटन को राष्ट्रीय स्तर पर फैलाया जा रहा हो, इंटक और हिंद मज़दूर सभा ने स्वयं को अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र ट्रेड यूनियन महासंघ से संबद्ध होने को चुना। आधुनिक विश्व में राष्ट्रीय अलगाव की बात सोचना संभव नहीं है, सिवा भारतीय मज़दूर संघ और अन्य दूसरे संगठनों के, जिनकी दृष्टि सीमित है, जिनकी विचारधारा संकुचित राष्ट्रीय उग्रवाद पर आधारित है, लेकिन जो ठीक इसी कारणवश साम्राज्यवाद और इसके समर्थकों द्वारा प्रेरित बहुत-सी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावादी स्थितियों के साथ सामान्य अभिन्नता पाते हैं। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध, अन्य और सवालों के साथ ही इस सवाल पर अतिवामपंथी प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ एक विचारधारात्मक संघर्ष आवश्यक है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन मज़दूर वर्ग से संबधित एक महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संगठन है जिसकी 1919 में अंतर्राष्ट्रीय लीग द्वारा स्थापना की गयी। 1917 में रूस में अक्तूबर क्रांति के बाद विश्व में क्रांतिकारी भावनाओं के विकास का यह एक प्रकार से सुधारवादी प्रत्युत्तर था। सरकारों, श्रमिकों (बतौर नियम के, बड़े ट्रेडयूनियन केंद्रों से सरकार द्वारा मनोनीत ट्रेड यूनियनवादियों) और नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों समेत यह एक त्रिपक्षीय संरचना है। अपनी संरचना में ही इसका झुकाव नियोक्ताओं और सरकारों की तरफ़ है जो अपने 'मज़दूर सहयोगियों' को भी चुन लेती है। फिर भी, वास्तविकताओं का दबाव अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन पर पड़ा है। श्रम संबंधों के विभिन्न पक्षों और अबाधित शोषण पर रोकथाम के संबंध में इसकी धारणाएं पर्याप्त सरकारों पर बाध्यकारी नहीं हैं जब तक वे उनके द्वारा अभिपुष्ट न हों, फिर भी वे मज़दूरों के लिए लाभदायक सिद्ध हुई हैं। मज़दूरों के हाथों में वे उपयोगी हथियार हैं। इसका श्रेय अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को है।

1954 में अन्य समाजवादी देशों समेत सोवियत संघ इसमें शामिल हो

गया। हाल के वर्षों में, बहुत से नवस्वतंत्र देश भी अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में सम्मिलित हो गये हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के भीतर बहुत से परिवर्तन आए हैं, यद्यपि इसकी आधारभूत संरचना, जिसकी स्थापना 'सामाजिक हिस्सेदारी' और निजी स्वामित्व की सुरक्षा के विचार के अनुसार हुई थी, 1919 के बाद से अपरिवर्तित रही है। समाजवादी देशों की ट्रेड यूनियनों और अन्य प्रगतिशील देशों के ट्रेड यूनियन केंद्रों के अनुरूप विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के मंच का उपयोग मज़दूरों के हितों को थामने, शांति की सुरक्षा, युद्ध सामग्री का शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए रूपांतरण करने, ट्रेड यूनियन अधिकारों की सुरक्षा, बेरोज़गारी के खिलाफ़ और काम के अधिकार आदि के लिए करता है। दूसरी ओर, अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र ट्रेड यूनियन महासंघ अनेक मुद्दों पर नियोक्ताओं और पूँजीवादी सरकारों के साथ स्वयं को अभिन्न पाता हुआ वर्ग-सहयोग पर आधारित एक सुधारवादी रुख़ अपनाता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन इस प्रकार वर्ग-संघर्ष का अखाड़ा बन गया है जिसका परिणाम अनेक अवसरों पर विश्व में शक्तियों के सहसंबंध पर निर्भर करता है।

भारतीय मज़दूरों का अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में प्रतिनिधित्व स्वभावत: एक तकलीफ़देह मुद्दा है, क्योंकि सरकार इंटक के पक्ष में भेदभाव बरतती है।

टिप्पणी :

1. विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की प्रस्तावना और संविधान देखिये।

ज़रूर पढ़ें :

1. विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ : वी० मोज़ायेव, ए०यू०सी०सी०टी०यू० द्वारा प्रकाशित
2. ट्रेड यूनियन रिकॉर्ड : 20 सितम्बर, 1984
3. ट्रेड यूनियन रिकॉर्ड : मई दिवस शताब्दी का मुद्दा
4. एटक के पचास वर्ष
5. हेमार्केट विरासत : अनातोली रीपिन : विश्व ट्रेड यूनियन संघ प्रकाशन
6. भारत में मई दिवस समारोहों का इतिहास : दिलीप बोस

पाठ : 9

ट्रेड यूनियन का चरित्र

जैसाकि हम भारत और अन्य देशों में आंदोलन के इतिहास से देखते हैं, यह एक मज़दूर का दैनिक अनुभव ही है जो उसे अपने सहयोगी मज़दूरों के साथ जुड़ने और एक यूनियन बनाने के लिए प्रेरित करता है। ट्रेड यूनियन के माध्यम से ही मज़दूर पूंजीपति के शोषण के ख़िलाफ़ अपना दैनंदिन संघर्ष चलाता है। और ठीक उसी प्रकार जैसे एक नवजात बच्चे को पालने में देखभाल की जाती है, इसके बाद ही वह दुनिया में पहले डगमगाते क़दम रखता है, उसी तरह 'सामूहिक श्रमिक' ट्रेड यूनियन के पालने में पालन-पोषण के बाद ही मज़दूर-वर्ग आंदोलन के रूप में क़दम उठाता है।

"ट्रेड यूनियन मज़दूर आंदोलन का पालना है, क्योंकि मज़दूर स्वभावतः उसी की तरफ़ पहले मुड़ते हैं जो उनके दैनिक जीवन को प्रभावित करता है और परिणामतः वे अपने व्यावसायिक सहयोगियों के साथ जुड़ जाते हैं।"[1]

पूँजीवाद के अंतर्गत, ट्रेड यूनियनें ही सामान्य वर्ग-संगठनों के रूप में मज़दूरों के व्यापक समूहों को एकजुट करती हैं और शोषक पूँजीपति वर्ग और इसके राज्य-तंत्र के ख़िलाफ़ उन्हें लामबंद करती हैं। इस संघर्ष में वे प्रमुख हथियार होती हैं।"[2]

अतः, मज़दूरों के संघर्ष की मूलभूत प्रकृति की यह माँग है कि प्रभावशाली बनने के लिए ट्रेड यूनियनें कार्यस्थलों, फ़ैक्टरी या उद्योगों में मज़दूरों के समूचे समूह को अपने अन्दर शामिल करें। इसके दरवाज़े किसी भी व्यक्ति की जाति, लिंग, भाषा या धर्म—जिसे जो भी मानता हो—का भेदभाव किये बिना सभी मज़दूरों के लिए खुले होने चाहिए। प्रत्येक मज़दूर से संपर्क किया जाना चाहिए और यूनियन में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, वह मज़दूर जो अपने कार्यस्थल पर किसी ट्रेड यूनियन में सम्मिलित नहीं होता, ऐसा मज़दूर अपना प्रारंभिक वर्ग-कर्तव्य पूरा नहीं करता।

सामान्य श्रमिक अपनी यूनियन के नेतृत्व में लड़े गये संघर्ष की आग से गुज़र

कर स्वभावतः इसे अपना मानने लगता है। उसके और मालिक के बीच ट्रेड यूनियन कवच की तरह रहती है। सभी आक्रामक और सुरक्षात्मक लड़ाइयों में यह ही उसकी तलवार है। ट्रेड यूनियन ही उसके जीवन और काम की परिस्थितियों को बेहतर बनाने और जो कुछ भी उसने अब तक हासिल किया है, उसकी सुरक्षा करने में मदद करती है। कोई आश्चर्य नहीं कि एक बार अगर मज़दूर यूनियन में आ जाए और वह यूनियन उसे संघर्षों से गुज़रने दे, भले ही वे सही हों या ग़लत हों, वह उस यूनियन के प्रति गहरा लगाव महसूस करने लगता है। उसे वहाँ से उखाड़ने के प्रयत्न आसान नहीं हैं। यहाँ तक कि अगर मज़दूर को बहकाया भी गया है, तब उस व्यक्ति को जो उसे सही रास्ते पर लाना चाहता है, अपनी विश्वसनीयता क़ायम करने और मज़दूर को ख़ुद उसके जीवनानुभवों से समझाने के लिए एक लंबी अवधि तक धैर्यपूर्वक और दृढ़ता के साथ कार्य करना होगा।

यहाँ तक कि पूंजीवादी राज्य या व्यक्तिगत मालिक द्वारा एकजुट होने और अपनी पसन्द की यूनियन में सम्मिलित होने के मज़दूरों के अधिकार का उल्लंघन या प्रतिबंध मज़दूरों द्वारा अपने मूलभूत अधिकार पर हमले, मज़दूर आंदोलन को कमज़ोर करने के इरादे से किये गये सामान्य हमले के रूप में लिया जाता है।

जहाँ कहीं मज़दूरों का एक हिस्सा स्वयं ही एक साझी यूनियन में मज़दूरों के समूचे समूहों को एकजुट करने पर रोक लगा देता है, तो वह भी जानबूझकर या अन्यथा आंदोलन को रोकने और कमज़ोर का प्रयास बन जाता है। इसका पहला उदाहरण शिल्प या श्रेणीबद्ध यूनियनों की स्थापना है।

अपने आरंभिक काल में ब्रिटिश ट्रेड यूनियनें संकीर्ण शिल्प संगठन ही थीं जिनके मज़दूरी में वृद्धि, कार्यदिवस में कमी और विशिष्ट शिल्प के लिए बेहतर परिस्थितियाँ जैसे तात्कालिक और आंशिक रूप से व्यवहार्य उद्देश्य ही थे। मार्क्स और एंगेल्स ने उनका संकुचित दृष्टिकोण देखा, यद्यपि इसे वे मज़दूर-आंदोलन के विकास के रास्ते में आगे बढ़ा हुआ एक क़दम मानते थे। शिल्प-यूनियनों की उपयोगिता समाप्त होती गयी और धीरे-धीरे वे उस देश की विशाल औद्योगिक यूनियनों में बदलती चली गयीं।

भारत और दूसरे अन्य देशों में, श्रेणीबद्ध यूनियनों और संघों की समस्या बनी हुई है। किसी व्यक्ति की अपनी श्रेणी के हितों के बारे में संकुचित दृष्टिकोण से सामान्यतः ये पैदा हो जाती हैं। मगर कभी-कभी संस्थान की केवल कुछ ही श्रेणियों के प्रतिनिधियों के वर्चस्व वाली सामान्य यूनियन की, जिसमें दूसरी श्रेणियों की विशिष्ट समस्याओं की उपेक्षा होती है, असंतोषजनक और अलोकतांत्रिक कार्य-प्रणाली के कारण भी श्रेणीबद्ध यूनियनें बन जाती हैं। जब ऐसा होता है तो यह एक चेतावनी है कि सामान्य यूनियन की कार्य-प्रणाली अच्छी और स्वस्थ नहीं है और इसलिए इसे ठीक करने के उपाय किये जाने चाहिए।

हर हालत में श्रेणीबद्ध यूनियनें दृष्टिकोण की संकीर्णता को बढ़ावा देती हैं और एक ही कार्यस्थल पर मज़दूरों को शेष भाइयों से श्रेणीगत रूप में अलग कर देती हैं। सभी मज़दूरों के सामान्य हितों की ओर ध्यान दिये बग़ैर 'मेरी अपनी श्रेणी' के हित इस ग़लत विश्वास से पैदा होते हैं कि इन्हें उनके लिए संघर्ष किये बिना प्राप्त किया जा सकता है। वह स्थिति अपरिहार्य रूप से उस श्रेणी को अन्य श्रेणियों के प्रति उदासीनता या उसके बिना परस्पर विरोधी की स्थिति तक ले जाती है। यह, इस तरह, मज़दूरों की क़तारों के भीतर 'प्रतियोगिता' के तत्त्व का प्रवेश कराती है, जिसे निकालना यूनियन का पहला लक्ष्य होना चाहिए था। यह वर्ग-चेतना के विकास को अवरुद्ध करती है।

अतः हम श्रेणीगत यूनियनों को हतोत्साहित करते हैं और औद्योगिक यूनियनवाद का पक्ष लेते हैं। हमारा लक्ष्य है, "एक उद्योग या संस्थान में एक यूनियन," इससे भी आगे एक वृहत्तर भौगोलिक क्षेत्र में जैसेकि राज्य या सारे देश में 'एक औद्योगिक संघ।'

मगर चूँकि श्रेणीगत यूनियनें वर्तमान सुधारवादी नेतृत्व और अलोकतांत्रिक कार्यप्रणाली वाली यूनियन की असफलताओं से पैदा हो सकती हैं, हम सदैव श्रेणी का विचार किये बिना मज़दूरों को अपने पीछे एक ही यूनियन की ओर आकर्षित करने का लक्ष्य सामने रखते हुए, इन यूनियनों में काम कर सकते हैं।

जाति पर आधारित यूनियनें बनाना, चाहे खुलेआम या दबे-ढके, एक खतरनाक और विघटनकारी प्रवृत्ति है। हमारे समाज में जातिगत विभाजन के संदर्भ में और जातिवाद व अपने स्वार्थपूर्ण हितों को पूरा करने हेतु निहित स्वार्थों द्वारा इसके उपयोग के मज़दूर आंदोलन के लिए गंभीर निहितार्थ हैं।

यह चेष्टा प्रायः दूसरे तबक़ों के विरुद्ध वास्तविक या काल्पनिक शिकायतों को उभार कर तथा उन पर ज़ोर देकर, तथा जातिगत अनन्यता को प्रचारित करके 'निम्न जातियों' द्वारा की जाती है। पिछड़ी हुई जातिगत चेतना लिये मज़दूर कभी-कभी दूसरे अल्पसंख्यकों के साथ इस तरह की यूनियनों या 'सांस्कृतिक संघों' में खींच लिये जाते हैं।

यह रेखांकित करना ज़रूरी है कि प्रभुत्वशील जातियों (यह मानकर चलते हुए कि संबंधित ट्रेड यूनियन में इस तरह की कोई अभिव्यक्ति है) से निम्न या पिछड़ी जातियों की जातिगत विचारधारा का सहारा लेकर संघर्ष नहीं किया जा सकता। दोनों, बहुमत और अल्पमत हिस्सों को उच्च और निम्न जातियों को यह विश्वास दिलाना होगा कि दोनों के हित आपसी विश्वास, सहयोग, अधिक लोकतंत्र और एकता की माँग करते हैं। साथ-साथ, दूसरे हिस्सों को निम्न जातियों की वास्तविक शिकायतों का समाधान भी करना होगा।

एक शताब्दी से भी पहले, कार्ल मार्क्स ने मज़दूरों को विभाजित रखने वाले

किसी भी पारम्परिक कारण के ख़िलाफ़ एक सिद्धांतनिष्ठ संघर्ष चलाने की ज़रूरत को रेखांकित किया था। मार्क्स ने लिखा, "संयुक्त राज्य अमेरिका में मज़दूरों का प्रत्येक स्वतंत्र आंदोलन बेजान बना रहा जब तक कि ग़ुलामी गणतंत्र के एक भाग को विरूपित किए रही।" अतः उन्होंने मज़दूरों से ग़ुलामी के विरुद्ध संघर्ष करने का आग्रह किया, क्योंकि "गोरे मज़दूर तब तक स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकते जब तक कि काली चमड़ी के मज़दूरों पर लेबुल चस्पाँ हैं।" भारत में यह और भी अधिक प्रासंगिक है जहाँ सदियों पुराने जातिवादी ट्रेडमार्क मज़दूरों को विभाजित रखे हुए हैं।

बहरहाल, भारतीय परिस्थितियों में जाति-संघर्ष को वर्ग-संघर्ष का रूप देना, जैसाकि कुछ अवसरवादी करने की कोशिश कर रहे हैं, पूर्णतः ग़लत और विघटनकारी है। वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष शोषकों के विरुद्ध शोषित समूहों के सभी हिस्सों को एकजुट बनाते हैं। जातिगत चेतना और जातिगत संघर्ष शोषकों से लड़ने के नाम पर जातियों के अनुसार शोषित समूहों को विभाजित करते हैं। वे मुख्य शत्रु के ख़िलाफ़ संघर्ष को दूसरी दिशा में ले जाते हैं।

जाति और समुदाय पर आधारित यूनियनों, अथवा यूनियनों के भीतर जाति या समुदाय पर आधारित मतभेदों का चौकस होकर मुक़ाबला करना होगा और दमित तबक़ों के ख़िलाफ़ भेदभावों और अत्याचारों से सक्रियतापूर्ण और प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष चलाना होगा।

कुछ व्यक्तियों के आसपास एकत्र ट्रेड यूनियनों के उद्भव, विशेषकर वृहद औद्योगिक संकुलों में, ट्रेड यूनियन आंदोलन में पाये जाने वाली 'व्यक्तिपूजा' की प्रक्रिया पर गंभीरतापूर्वक ध्यान देना होगा।

यह अकेले हमारे देश के लिए ही एकदम नयी या विशेष चीज़ नहीं है। इस घटनाक्रिया के पीछे कुछ विशिष्ट कारण है :

- शहरी और ग्रामीण, धनी और मध्यम वर्गों से आने वाले नौजवान पहली पीढ़ी के मज़दूरों को उत्पन्न करने वाले उद्योगों का विस्तार;
- निम्न पूँजीपति वर्ग और मज़दूरों पर प्रभाव डालते निम्न पूँजीवादी प्रभाव में व्यापक वृद्धि;
- तकनीकी शिक्षा प्राप्त और कमाने की आकाँक्षाएँ विकसित करते मज़दूरों के व्यापक हिस्से;
- तीव्र होता हुआ इजारेदारी शोषण;
- पूँजीपतिवर्ग द्वारा व्यक्तित्वों, यहाँ तक कि 'जुझारू' व्यक्तियों को खड़ा करने के जानबूझकर किये गये प्रयास, जिन्हें चलाना अपेक्षाकृत आसान होता है और अपरिमित रूप से शक्तिशाली प्रचार माध्यमों द्वारा फैलायी

गयी अप-सूचनाएँ जो सदैव इस प्रकार के 'नायकों' को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करती हैं; एवं

- सबसे ऊपर, वामपंथी क़तारों में विभाजन, जो उत्पादन-विरोधी ट्रेड यूनियन शत्रुता को प्रेरित करता है।

ये सभी कारक जनोत्तेजकों और स्वार्थजीवियों तथा व्यक्तिगत ट्रेड यूनियन 'मालिकों', जो एक या दूसरे क्षेत्र में स्थापित ट्रेड यूनियन केन्द्रों की तुलना में ज़्यादा शक्तिशाली समझे जाते हैं, के विकास के लिए उपजाऊ भूमि निर्मित करते हैं।

प्रत्येक स्थिति में, समस्या का मूर्त रूप में अध्ययन करना होगा, कारकों को विश्लेषित करना होगा और उनका मुक़ाबला करने के लिए क़दम उठाने होंगे। ऐसे व्यक्तियों के नेतृत्व वाली यूनियन के प्रति एक पूरी तरह से नकारात्मक रुख़ से बचना होगा, विशेषकर तब जबकि आम मज़दूरों का उनमें विश्वास बना हुआ हो। नपुंसक आलोचना से बचना होगा विशेषकर तब जबकि संघर्ष चल रहे हों। मज़दूरों की 'मनःस्थिति' का सावधानीपूर्वक अध्ययन करना होगा। साथ ही, मज़दूरों को उनके स्वयं के अनुभवों द्वारा शिक्षित करना होगा कि ऐसे 'व्यक्तित्व', 'नायक', ट्रेड यूनियन मालिक और जनोत्तेजक कुछ भी नहीं दे सकते। यहाँ तक कि अगर तात्कालिक लाभ हासिल भी हो जाते हैं, ऐसे 'नेता' सर्वहारा संघर्षों के वर्गीय दृष्टिकोण से पूरी तरह रहित होते हैं।

यहाँ इस चीज़ पर बल दिया जाना चाहिए कि ट्रेड यूनियन, सबसे ऊपर, मज़दूरों का एक साझा वर्ग संगठन, एक लक्ष्य से परिचालित और प्रेरित व्यापक समूह एवं एक अंतिम लक्ष्य है, न कि सिर्फ़ किसी नेता का 'व्यक्तिगत अनुसरण।'

टिप्पणियाँ :

1. अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की साधारण समिति द्वारा 1876 में शिकागो के मज़दूरों को संबोधित पत्र;
2. समाजवाद के अंतर्गत, यह भूमिका भिन्न है, क्योंकि वहाँ संघर्ष के लिए न पूँजीपतिवर्ग है, न ही इसका राज्यतंत्र। मगर समाजवादी समाज में ट्रेड यूनियनों की भूमिका कुछ अधिक ही बढ़ जाती है। इस भूमिका को निभाने में असमर्थता गंभीर परिणामों को जन्म दे सकती है, जैसाकि कुछ देशों में देखा गया था।

जरूर पढ़ें :

1. यह ट्रेड यूनियनवाद नहीं है : बी० एस० धुमे
2. भारत में मार्क्सवाद तथा मज़दूर वर्ग की भूमिका : एस० जी० सरदेसाई
3. जाति, वर्ग एवं आरक्षण : ए० बी० बर्धन
   (आरक्षण पर बहस नामक पैंफ़लेट का अध्याय)

पाठ : 10

क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद बनाम सुधारवादी ट्रेड यूनियनवाद

जैसाकि हमने देखा, ट्रेड यूनियनें एक-दूसरे से जुड़ने, इस तरह के सम्मिश्रण द्वारा अपनी संख्या की ताक़त को ज़ोरदार ढंग से व्यक्त करने, शोषण के ख़िलाफ़ लड़ने अपनी जीवन और कार्यगत स्थितियों को बेहतर बनाने और सिर्फ़ बंधक मज़दूर और वेतनभोगी ग़ुलाम के स्तर से स्वयं को ऊपर उठाने के मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त प्रयासों से उत्पन्न हुई।

अत: ट्रेड यूनियनों का तात्कालिक कार्य-भार और लक्ष्य किसी भी कार्यस्थल या संस्थान में मज़दूरों की फ़ौरी माँगों को उठाना और उन्हें प्राप्त करने के लिए उन्हें लामबन्द करना है। इसके बिना, मज़दूरों के समूचे समूह को ट्रेड यूनियन में सम्मिलित होने के लिए संभवत: प्रेरित नहीं किया जा सकता। इसे ट्रेड यूनियन गतिविधियों का आरम्भिक बिन्दु बनना होगा।

इन माँगों के लिए संघर्षों के दौरान ही मज़दूर इस्पाती बनते हैं, उनकी वर्ग-चेतना जाग्रत होती है और उनका वर्ग-संगठन मज़बूत होता है। अत: दिन-प्रति-दिन के मुद्दों पर लड़े जाने वाले संघर्षों को कम करके आँकना, जब कभी भी अवसर आए, उन्हें हाथ में लेने में कोताही करना—और ऐसे अवसर पूँजीवादी समाज में अक्सर आते ही रहते है—पूरी तरह ग़लत होगा। इस प्रकार के अवमाननापूर्ण या फिर आलस्यपूर्ण रुख़ से सामान्य मज़दूर अपनी यूनियनों में रुचि खोने लगते हैं।

मगर जिन सुधारों के लिए हम लड़ रहे हैं, वे स्वयं में साध्य नहीं हैं। जब तक पूँजीवाद अस्तित्व में है, शोषण जारी रहता है, भले ही अपने ट्रेड यूनियन संघर्षों के दौरान मज़दूर कैसी भी बेहतर स्थितियों को प्राप्त करने में क्यों न सफल हो जाएँ। तब रोज़मर्रा के संघर्षों को चलाते हुए ट्रेड यूनियन आंदोलन की कार्रवाई

और लक्ष्य की क्या गुंजाइश है जिधर इसे बढ़ना है? इस संदर्भ में मार्क्स ने कहा :

"साथ ही, और मज़दूरी प्रणाली में निहित सामान्य दासता से एकदम अलग, मज़दूर वर्ग को इन दिन-प्रतिदिन के संघर्षों की मूलभूत कार्यप्रणाली को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं प्रस्तुत करना चाहिए। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे परिणामों से संघर्ष कर रहे हैं, न कि उन परिणामों के कारणों से, वे अधोगामी गति को कम भर कर रहे हैं, इसकी दिशा में परिवर्तन नहीं कर रहे हैं, वे प्रशामकों का प्रयोग कर रहे हैं, बीमारी का इलाज़ नहीं कर रहे। अतः उन्हें पूंजी के अनवरत अतिक्रमणों अथवा बाज़ारों में परिवर्तनों से निरन्तर उत्पन्न होते इन अपरिहार्य संघर्षों में ही मुब्तिला नहीं रहना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि इसके द्वारा उनके ऊपर तमाम परेशानियाँ थोप दिये जाने के साथ-साथ मौजूदा व्यवस्था समाज की आर्थिक पुनर्रचना के लिए ज़रूरी **भौतिक परिस्थितियों** और **सामाजिक रूपों** को उत्पन्न भी करती है। पुरातनपंथी आदर्श-वाक्य, '**उचित दिन के कार्य के बदले उचित दिन की मज़दूरी**' के स्थान पर उन्हें अपनी ध्वजा पर यह क्रांतिकारी आदर्श-वाक्य लिखवा देना चाहिए, '**मज़दूरी प्रणाली की समाप्ति।**' (ज़ोर मूल रचना में)[1]

क्योंकि मार्क्स ने आंदोलन के अन्तिम लक्ष्य की ओर ध्यान आकर्षित किया था, यही कारण है कि वह संयोजनों व संघर्षों की दिशा में मज़दूरों द्वारा लिये जाने वाले प्रथम व आरम्भिक क़दमों के प्रति इतना सावधान थे।

यह नोट किया जाना चाहिए कि मज़दूरों की जीवन व श्रमगत परिस्थितियों में सुधार, राजनीतिक व सामाजिक जीवन में सुधार महत्वपूर्ण व आवश्यक हैं। उनकी जीवन स्थितियों में सुधार स्वागत योग्य परिवर्तन है। क्रांतिकारी उद्देश्य का समर्थन करने हेतु, जनता के बड़े समूहों को खींचने की सम्भावनाओं को व्यापक बनाते हुए वे सर्वहारा के संघर्ष की परिस्थितियों में भी सुधार को प्रेरित करते हैं। लेकिन सुधारों को ही सब कुछ समझने और अन्तिम लक्ष्य अर्थात समाजवाद के लिए संघर्ष को भूल जाने का अर्थ ट्रेड यूनियन आंदोलन को असंगत बनाना और सारी व्यवस्था को बदले बिना आज एक और कल दूसरी रियायत पाने के साधारण कार्य की हद तक नाक़ारा बना देना है। यह एक गोल घेरे में चक्कर लगाने के समान है। ट्रेड यूनियन आंदोलन में यह सुधारवाद है। इस प्रकार की सुधारवादी ट्रेड यूनियनें 'समाजवाद की पाठशालाएँ' नहीं बन सकतीं। क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद का आशय है तात्कालिक और आंशिक माँगों के संघर्ष को व्यवस्था परिवर्तन के संघर्ष से, अन्तिम लक्ष्य के लिए संघर्ष से जोड़ना। इसका अर्थ है आर्थिक संघर्षों को राजनीतिक माँगों और वैकल्पिक नीतियों के संघर्ष से जोड़ना।

एक को दूसरे से न जोड़ने का अर्थ मज़दूर वर्ग के उत्थान के लिए संघर्ष में तोड़-फोड़ करना है। कोई चाहे या न चाहे, दोनों तरफ़ से ही, यह पूंजीपतिवर्ग के हाथों में खेलना है।

कई स्थितियों में ट्रेड यूनियन कार्य 'अर्थवाद' की सामान्य और पुरानी बीमारी से ग्रस्त रहता है जो सुधारवादी ट्रेड यूनियनवाद की सामान्य अभिव्यक्ति है। अर्थ-वाद का मतलब है ट्रेड यूनियन क्षेत्र में आंशिक और तात्कालिक माँगों के लिए स्वत:स्फूर्त संघर्ष तक स्वयं को सीमित कर लेना और यह भूल जाना कि मज़दूर वर्ग का अन्तिम लक्ष्य सत्ता प्राप्त करना और मज़दूरी-दासता को समाप्त करना है। उदाहरण के लिए अपने ट्रेड यूनियन संघर्ष को मात्र ट्रेड यूनियन अधिकारों की रक्षा, अथवा मँहगाई भत्ते की उचित दर अथवा बेहतर मज़दूरी और इसी प्रकार की अन्य चीज़ों तक सीमित रखना काफ़ी नहीं है। इसे सरकार की नीतियों के ख़िलाफ़ निर्देशित किया जाना चाहिए जो बदहाल जनता के लिए मुश्किलें पैदा करती हैं, विकास को बाधित करती हैं तथा मज़दूर वर्ग के समक्ष भिन्न-भिन्न हितों, वर्ग शक्तियों और दलों को रखती हैं जो ये नीतियाँ बनाते हैं अगर ट्रेड यूनियनें इन नीतियों के ख़िलाफ़ व्यापक और सामूहिक संघर्ष संगठित कर सकें, तो जनता के व्यापक हिस्सों को एकजुट करना और कुछ मुद्दों पर सरकार को पीछे हटने के लिए विवश करना संभव हो जाता है। संघर्ष एक राजनीतिक चरित्र ग्रहण कर लेता है, मज़दूर वर्ग की वर्गचेतना को गहराई देता है और सामाजिक प्रगति के हरावल दस्ते के रूप में अपनी भूमिका निभाने में इसे सहायता प्रदान करता है। दिन-प्रतिदिन के ट्रेड यूनियन कार्य के प्रति अत्यधिक लगाव और राजनीतिक कार्य के प्रति उदासीनता, एक ही प्रकार के भटकाव हैं, जिसे ठीक करना होगा।

कुछ ट्रेड यूनियनवादियों का राजनीति विषयक विचार केवल ऐसे राजनीतिक प्रश्नों तक ही सीमित है जो किसी विशिष्ट ट्रेड यूनियन या आर्थिक संघर्ष के दौरान सामने आते हैं। वे यह 'राजनीतिक संघर्ष' लड़ने के लिए तैयार होते हैं क्योंकि परिस्थितियाँ उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं, मगर मज़दूर वर्ग-सत्ता के लिए राजनीतिक संघर्ष करने के लिए नहीं। यहाँ तक कि वे सर्वाधिक जुझारू हड़ताली कार्रवाइयाँ करने के लिए तैयार रहते हैं और करते भी हैं मगर वह किसी वर्गीय परिप्रेक्ष्य से रहित होती है। 'मज़दूर-राजनीति' की यह एक ट्रेड यूनियनवादी व्याख्या है जिसका अर्थ सर्वहारा के हितों को पूंजीवादी राज्य के हितों के अनुसार अनुकूलित करने से न कम है, न ज़्यादा है। यह 'अर्थवाद' 'श्रमिक संघवाद' का एक विशिष्ट रूप है। 'अर्थवाद' स्वत:स्फूर्तता उत्पन्न करता है और चेतना की भूमिका की उपेक्षा करता है जो ज्ञान की पूर्णता पर आधारित है और इसीलिए बाहर से मज़दूरों की क़तारों में पैदा की जाती है। ट्रेड यूनियन-वाद में इस प्रकार का सुधारवादी दृष्टिकोण क्रमिकवाद, समाजवाद की दिशा में

क़दम-ब-क़दम प्रगति, तथाकथित 'समाजवादी ढाँचे का समाज,' 'लोक-पूंजीवाद' और 'रामराज्य' का इसका भारतीय संस्करण आदि, जिसका मज़दूरों के बीच पाये जाने वाले पूंजीपतिवर्ग के प्रवक्ताओं द्वारा श्रमपूर्वक प्रचार-प्रसार किया जाता है, के विचारों को बनाये रखने में मदद करता है।

सुधारवादी ट्रेड यूनियनवाद का एक बड़ा रूप मुक़दमों, निर्णयादेशों और क़ानूनी कार्रवाइयों में अत्यधिक व्यस्तता का होना है। इसने 'ट्रेड यूनियनवादियों की एक ख़ास क़िस्म को पैदा किया है जो ट्रेड यूनियन नेता और सक्रिय कार्यकर्त्ता की अपेक्षा वकील और अभिवक्ता अधिक हैं। कुछ स्थितियों में इसने परजीवियों की एक क़िस्म को भी पैदा किया है जो मज़दूरों की असहायता और कमज़ोरी पर पलते हैं।

कुछ मौक़ों और विशेष स्थितियों में क़ानून, कचहरियों और ट्रिब्यूनलों का सहारा लेना निस्संदेह ज़रूरी है। आंदोलन के दौरान इस तरह का अवसर अनुकूल और सामयिक सहारा मददगार साबित होता है। अनेक मौक़ों पर कचहरियों ने बड़े महत्वपूर्ण और उपयोगी निर्णय दिये हैं (उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं)। मगर जहाँ ट्रेड यूनियन मुक़दमे सामूहिक कार्रवाइयों, जन आंदोलन और संघर्ष का स्थानापन्न बन जाते हैं, और जहाँ क़ानूनी कार्यवाही मुख्य कार्य बन जाती है, वहाँ वर्ग-चेतना कुंद हो जाती है और पूंजीवादी क़ानूनी प्रक्रियाओं में विश्वास पैदा होने लगता है जो अधिकतर हताशा में ख़त्म होता है।

कुछ ट्रेड यूनियनवादी यूनियनों को परेशानियाँ हल करने के लिए किसी संस्थान में सत्ताधारियों तक पहुँच के साधन के रूप में देखते हैं जो एक ऐसी चीज़ है जिसे प्रत्येक मज़दूर द्वारा व्यक्तिगत रूप से नहीं किया जा सकता। यहाँ पूंजीपति और सरकार 'दानदाताओं' की भूमिका निभाते हैं जबकि अपनी ट्रेड यूनियनों में संघबद्ध मज़दूर 'प्राप्तकर्त्ता' माने जाते हैं। इस तरह के ट्रेड यूनियनवाद में मंत्रियों का सामीप्य और शासक दल के साथ निकट का संबंध भी एक बड़े सकारात्मक तत्व के रूप में चित्रित किया जाता है। सार रूप में यह इंटक और दूसरे स्वतन्त्र सुधारवादियों का दृष्टिकोण है। अपने समस्त शब्दाडंबरपूर्ण साज़ो-सामान और दार्शनिकता के बावजूद ट्रस्टीशिप के सिद्धांत में ठीक इसी क़िस्म का दृष्टिकोण पाया जाता है।

मज़दूर वर्ग को बहरहाल अपनी आशा मालिक और सरकार की दानशीलता या मानवीयता पर नहीं, बल्कि अपनी स्वयं की क्रांतिकारी ऊर्जा और जन-आंदोलन पर केन्द्रित करनी है। जैसाकि मार्क्स ने कहा है: "ताक़तवर की कमज़ोरी से सामाजिक सुधार पैदा नहीं किये जा सकते: उन्हें कमज़ोर की ताक़त द्वारा उत्पन्न किया जाना चाहिए और करना होगा।"

वर्तमान में हमारे देश में ट्रेड यूनियन आंदोलन के भीतर सर्वाधिक कपटपूर्ण

प्रवृत्ति 'स्वतन्त्र' और विशुद्ध ट्रेड यूनियनवाद', 'ट्रेड यूनियन तटस्थता', सभी राजनीतिक दलों और जिसे घृणापूर्वक 'झंडों की लड़ाई' कहा जाता है, से अलग रहने की है !

इस प्रवृत्ति के प्रचुर विकास के लिए राजनीतिक लाइनों पर ट्रेड यूनियनों का विखंडन निश्चित रूप से वस्तुनिष्ठ आधार का काम करता है—प्रत्येक दल अपना अलग ट्रेड यूनियन पक्ष स्थापित करता है, इस तरह मज़दूरों को विभाजित करता है और उनके संघर्ष को कमज़ोर बनाता है। तथाकथित 'विशुद्ध ट्रेड यूनियनवादी' मज़दूरों के बीच इस विभाजन से लाभ उठा रहे हैं। वे मज़दूरों को 'राजनीति' और 'राजनीतिज्ञों' से अलग रहने की सलाह देते हैं। उन्हें किस ओर मुड़ना चाहिए ? कहा जाता है कि उन्हें इस तरह के संबंधों से 'मुक्त' व्यक्तियों की ओर, शाब्दिक अर्थों ने 'स्वच्छंद' व्यक्तियों की ओर मुड़ना चाहिए। इस प्रकार मज़दूरों को उनके वर्तमान ट्रेड यूनियन संगठनों और उनके राजनीतिक दलों के विरुद्ध खड़ा कर दिया जाता है। अतिवामपंथियों के समान वे इन दलों को प्रतिष्ठान और इसी तरह की चीज़ के रूप में पेश करते हैं।

यह स्पष्ट है कि ये स्वतंत्र और मुक्त ट्रेड यूनियनवादी मज़दूरों को वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष से दूर खींचने और एक प्रतिशोध के साथ 'अर्थवाद' की ओर ले जाने का प्रयास कर रहे हैं। जुझारू जन-कार्रवाइयों का अभाव और सही वक़्त पर मज़दूरों की मनोदशा समझ पाने में असफलता उन्हें आवश्यक अवसर प्रदान करती है। उपरोक्त प्रकार का ट्रेड यूनियन जनोत्तेजन आम मज़दूरों के पिछड़ेपन और संकीर्ण स्वार्थों को रास आता है। मज़दूरों को जनोत्तेजकों की नहीं, कुछ ताक़तवर प्रचारकों और आंदोलनकर्ताओं की ज़रूरत है। उन्हें प्रभावशाली 'जन-नेताओं' की ज़रूरत है।

'ट्रेड यूनियन तटस्थता' निम्न रूपों में अभिव्यक्त होती है: (1) सभी तरह की 'राजनीति' से परहेज़ करना और यूनियन के काम को आर्थिक माँगों के लिए संघर्ष करने तक सीमित रखना, (2) मज़दूरों को सभी राजनीतिक दलों से दूर रखना—वस्तुतः विशेषकर वामपंथी दलों के प्रति उनमें गहरी शत्रुता का भाव भरना और (3) दबाव पड़ने पर, 'मज़दूर-राजनीति' की एक क़िस्म के व्यावहारिक कार्यक्रम की अस्पष्ट चर्चा करना।

सार रूप में ट्रेड यूनियन तटस्थता एक पूँजीवादी विचार है और यह पूँजीपति-वर्ग की चक्की के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है क्योंकि यह मज़दूरों को सर्वहारा वर्ग-संघर्ष से अलग-थलग कर देता है।

ट्रेड यूनियनें किसी विशेष दल से उस रूप में 'स्वतंत्र' हैं और होनी चाहिए कि वे न तो किसी दल की मातहत हों, न ही निर्देशित हों। लेकिन वे सभी तरह की 'राजनीति' से न तो 'स्वतंत्र', न ही 'मुक्त' हो सकती हैं। क्योंकि वामपंथी

दलों द्वारा भी उन पर प्रभाव डाला जाता है जो उन्हें उनकी नियति की दिशा में मार्ग दिखलाता है। हम चाहते हैं कि ट्रेड यूनियनें जनवादी रूप से अपने निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हों। हम नहीं चाहते कि वे समाजवाद से स्वतंत्र हों, पूंजीवादी शोषण को खत्म करने के लिए लड़े जाने वाले राजनीतिक संघर्ष से स्वतंत्र हों।

अत: क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवादियों को ट्रेड यूनियन आंदोलन में पाए जाने वाली इस तरह की सभी अराजक-श्रमिक संघवादी और सुधारवादी प्रवृत्तियों का मुक़ाबला करना होगा।

उपरोक्त वर्णित तरीक़ों के अलावा सुधारवाद और भी अन्य रूप ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, भारतीय मज़दूर संघ की विचारधारा विशिष्ट भारतीय परिस्थिति के मुताबिक़ पूंजीवाद के लिए पूर्णरूपेण समर्थन और धार्मिक-साम्प्रदायिक परम्परावाद का मिश्रण है।

दूसरी ओर, संकीर्णतावाद, बचकाना उग्रवाद, अल्पसंख्यक समूह द्वारा निष्क्रिय जनता के लिए की जाने वाली जुझारू कार्रवाई की प्रवृत्ति भी बलवती हो रही है।

मूर्त अध्ययन और रहस्योद्घाटन के आधार पर इन सभी प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक दृढ़ और सैद्धान्तिक संघर्ष चलाना होगा। अन्तिम विश्लेषण में उनका लक्ष्य क्रांतिकारी ट्रेड यूनियन आंदोलन है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सभी तरह के सुधारवादियों और संकीर्णतावादियों को—यहाँ तक कि उनमें से सर्वाधिक जुझारू दिखायी पड़ने वालों को—पूंजीपतिवर्ग से सभी तरह का प्रोत्साहन, कभी खुला कभी दबा-ढका, मिलता रहता है।

व्यापक ट्रेड यूनियन एकता के लिए संघर्ष के साथ यह संघर्ष किस प्रकार समन्वित किया जा सकता है?

एक प्रवृत्ति के रूप में सुधारवाद से राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष चलाया जाना चाहिए। मगर ऐसा करते हुए आम मज़दूरों को प्रभावित करने वाले सामान्य मुद्दों पर सुधारवादियों के नेतृत्व वाली यूनियनों के साथ मिलकर संयुक्त कार्रवाइयाँ चलायी जानी चाहिए। केवल यही चीज़ ही उनके पीछे खड़े मज़दूरों को अनुभव द्वारा सुधारवाद की त्रुटियों और सीमाओं को समझने, क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद के महत्व को पहचानने और उन्हें इसका समर्थन करने में मदद करती है। साझी संयुक्त यूनियन में जो भी कार्रवाई चलायी जाए, सही समझदारी तक पहुँचने के लिए मज़दूरों को समय और धैर्य चाहिए। संकीर्णतावादी ग़लतियों, आक्रामक और हठधर्मितापूर्ण तरीक़ों से बचा जाना चाहिए, और किसी भी क़ीमत पर सामान्य मज़दूरों को 'नेताओं' के साथ गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए। आम जनता के प्रति भ्रातृत्वपूर्ण रुख, यहाँ तक कि संयुक्त

कार्रवाइयों को आगे बढ़ाने के लिए 'नेताओं' के प्रति भी मित्रतापूर्ण रुख और सबसे ऊपर धैर्य—इस संघर्ष में ये आवश्यक तत्व हैं। संयुक्त कार्रवाइयाँ एक चरण से अगले चरण तक सही व्यूहरचना, हमेशा मज़दूरों की समझदारी का स्तर बढ़ाने और क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद को लाभ पहुँचाने में मदद करती हैं।

हमारे देश में विकसित होती हुई परिस्थिति और तीव्र होता हुआ वर्ग-संघर्ष नीतिगत और 'राजनीतिक' मुद्दों को प्रस्तुत कर रहे हैं और तात्कालिक माँगों के लिए संघर्ष को मजदूर वर्ग आंदोलन के राजनीतिक लक्ष्य हेतु संघर्ष से जोड़ने के लिए आधार प्रदान कर रहे हैं।

टिप्पणी :

1. मार्क्स द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की साधारण सलाहकार समिति को दिया गया संबोधन जो 'मूल्य, क़ीमत और लाभ' नामक पुस्तिका में प्रकाशित है।

ज़रूर पढ़ें :

1. मूल्य, क़ीमत और लाभ : कार्ल मार्क्स
2. क्या करें : वी० आई० लेनिन
3. साधारण सभा के सत्रों तथा बैठकों में प्रस्तुत एटक महासचिव की रिपोर्टें।

दूसरा भाग

पाठ : 11

मज़दूरी का प्रश्न

ट्रेड यूनियन कार्य का मुख्य मुद्दा मज़दूरी का प्रश्न है। अधिक मज़दूरी, कार्य के कम घंटे, व्यावसायिक सुरक्षा के लिए, मज़दूरी के कम होते जाने और श्रम के तीव्रीकरण के ख़िलाफ़ संघर्ष ट्रेड यूनियन क्रियाकलाप का एक बड़ा भाग है। औद्योगिक विवादों, कामबंदी और उद्योग में बर्बाद हुए श्रमदिवसों का एक बड़ा भाग इन संघर्षों के कारण ही है।

पूँजीवादी व्यवस्था में, पूँजीपति और मज़दूर विक्रेता और क्रेता के रूप में श्रम बाज़ार में एक-दूसरे का सामना करते हैं। मज़दूर के पास विक्रय के लिए उसकी श्रम करने की योग्यता, उसकी श्रम-शक्ति होती है। और पूँजीपति यह श्रम शक्ति ख़रीदता है जिसे वह इच्छित वस्तु का उत्पादन के लिए कच्चे माल और उत्पादन के साधनों पर प्रयुक्त करता है।

अन्य वस्तुओं की तरह, जिन्हें बाज़ार में विक्रय के लिए लाया जाता है, श्रम-शक्ति भी एक तरह की वस्तु है। पूँजीपति मज़दूर को उसकी श्रम-शक्ति के तुल्य मुद्रा का भुगतान इसे कुछ समय प्रयोग करने के लिए अथवा कार्य की एक निश्चित मात्रा के लिए करता है।

ऊपर से देखने पर मज़दूर एक 'स्वतंत्र प्रतिनिधि' मालूम पड़ता है और क़ानूनी भाषा में पूँजीपति और मज़दूर के बीच श्रम-शक्ति के क्रेता और विक्रेता के रूप में समानता पायी जाती है। मगर आर्थिक दृष्टि से ऐसा नहीं है। पूँजी एक संकेन्द्रित सामाजिक शक्ति है जबकि मज़दूर के पास उसकी व्यक्तिगत श्रम-शक्ति है। मज़दूर केवल तभी रह सकता है जबकि वह अपनी श्रम-शक्ति बेचे और दूसरा इसे मज़दूरी के बदले ख़रीदे। दूसरी ओर पूँजीपति चाहे तो इसे ख़रीदे, न चाहे तो न ख़रीदे। वह इसे बिना ख़रीदे भी रह सकता है। 'वेतनभोगी-मज़दूर' के इस सम्बन्ध में शोषण की व्यवस्था और सामाजिक शक्ति ढकी या छिपी रहती है।

मज़दूरी कैसे निर्धारित होती है ?

जैसाकि हमने देखा है, मज़दूरी श्रम-शक्ति नामक वस्तु की मौद्रिक क़ीमत है। एक वस्तु का मूल्य मुद्रा के रूप में अभिव्यक्त विनिमय मूल्य है। अन्य चीज़ों के साथ माँग और पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित इसकी क़ीमत में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।

यह क़ीमत उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होती है। यह इससे अधिक या कम होती रहती है व एक समयावधि में इसमें आने वाले उतार-चढ़ाव परस्पर एक-दूसरे को समायोजित करते रहते हैं। वस्तु के रूप में श्रम-शक्ति के साथ भी ऐसा ही होता है। इसकी क़ीमत भी श्रम-शक्ति की उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होती है, दूसरे शब्दों में जिसका अर्थ है, एक मज़दूर की निर्वाह लागत, उसकी जीविका के साधनों की क़ीमत। पूँजीवादी व्यवस्था के चलते रहने के लिए ज़रूरी है कि मज़दूर अपना कार्य प्रभावशाली ढंग से करने की स्थिति में हो। सारे दिन परिश्रम करने और स्वयं को थकाने के बाद, वह अगले दिन फिर से कार्य शुरू करने की स्थिति में होना चाहिए। इसके लिए, उसकी बुनियादी ज़रूरतें—न सिर्फ़ स्वयं अपने लिए बल्कि जाति के रूप में अपने संवर्धन के लिए भी, साथ ही परम्पराओं, सामाजिक रीतियों और प्रगति द्वारा निर्देशित अन्य दूसरी ज़रूरतें भी पूरी करनी होंगी। इन वस्तुओं का सम्मिलित रूप में मौद्रिक मूल्य ही मज़दूर के निर्वाह की लागत है। सामाजिक औसत वह मज़दूरी है जिसका मज़दूर को भुगतान किया जाता है। जैसे, दूसरी वस्तुओं की क़ीमतों में एक ही बिन्दु-मूल्य के चारों ओर उतार-चढ़ाव होता रहता है, इसी तरह मज़दूरी अनेक तत्त्वों पर निर्भर करती हुई श्रम-शक्ति के मूल्य के चारों ओर चक्कर लगाती रहती है। कई बार पूँजीपति श्रम की क़ीमत को कम करने में सफल हो जाता है, कई बार बहुत ज़्यादा मात्रा में। दूसरे अवसरों पर, कुछ कम मात्रा में।

बहरहाल, श्रम-शक्ति अन्य दूसरी वस्तुओं से भिन्न होती है। इसकी विशिष्टता इस तथ्य में निहित है कि इसका नये और अतिरिक्त मूल्यों को पैदा करने में प्रयोग किया जा सकता है। जबकि श्रम-शक्ति का प्रयोग, मान लीजिए, 8 घंटे कार्य और नये मूल्यों को पैदा करने में किया जा सकता है, स्वयं श्रमशक्ति का उत्पादन करने के लिए यानी इसके निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए मात्र 4 घंटों का समय ही आवश्यक हो सकता है। ऐसी संभावना पूँजीवादी समाज में उत्पादक शक्तियों की वृद्धि के कारण होती है।

अत: 8 घंटों के दौरान जिसमें एक मज़दूर उत्पादन कार्य में संलग्न होता है, पहले चार घंटों में, हम कह सकते हैं, कि वह अपने निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं के मूल्य के बराबर मूल्य पैदा करता है। यह **आवश्यक श्रम समय** है, और इसके लिए उसे मज़दूरी के रूप में पारिश्रमिक मिलता है। अगले 4 घंटों के लिए **वह अतिरिक्त श्रम समय** लगाकर **अतिरिक्त मूल्य** पैदा करता है, जिसे पूँजीपति

हड़प लेता है। निश्चय ही, यहाँ हमारा संबंध प्रत्येक मज़दूर द्वारा आवश्यक या खर्च किये गये समय से नहीं वरन् प्रदत्त परिस्थितियों में **सामाजिक रूप** से आवश्यक समय से है।

अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन ही 'पूँजीवादी उत्पादन का प्रत्यक्ष लक्ष्य और निर्धारक उत्प्रेरक' है। इसीलिए पूँजीवादी उत्पादन की ऐतिहासिक प्रवृत्ति आवश्यक श्रम समय को कम करने और अतिरिक्त समय को फैलाने; निर्माण के बाद कुल मूल्य संवृद्धि के अनुपात में मज़दूरी को कम करने अर्थात् उत्पादन मूल्य के प्रतिशत के रूप में मज़दूरी में कटौती करने और अधिक अतिरिक्त मूल्य निचोड़ने आदि-आदि के उपाय खोजने की रही है। ऐसा अनेक तरीक़ों से किया जाता है जो अधिक उत्पादकता के लिए श्रम के तीव्रीकरण, वैज्ञानिक पुनर्गठन, आधुनिकीकरण आदि के सभी प्रयासों की जड़ में मौजूद हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था में शारीरिक, मानसिक और स्नायविक 'अतिरिक्त श्रम' एक निरन्तर प्रक्रिया है जिसका प्रतिरोध मज़दूर संगठन बनाकर वर्ग-संघर्ष के ज़रिए करता है।

अन्य देशों और भारत में मज़दूरी के लिए संघर्षों का इतिहास न सिर्फ़ कटु संघर्षों, दृढ़ युद्धों और मैदान में असंख्य कुर्बानियों का इतिहास रहा है, बल्कि पूँजीवादी और निम्न पूँजीवादी सिद्धांतों से, जिन्होंने मज़दूर वर्ग को इसके संघर्षों की व्यर्थता और निरर्थकता समझाते हुए निरस्त और निरुत्साहित करने के प्रयास किये हैं विचारधारात्मक संघर्ष का इतिहास भी रहा है। आज इनमें से कुछ तथाकथित 'वैज्ञानिक' तर्क मूर्खतापूर्ण और हास्यास्पद प्रतीत हो सकते हैं। मगर अपने समय में उनमें काफ़ी वज़न और प्रभाव था। और आज भी पूँजीपतिवर्ग के नवीन प्रवक्ताओं द्वारा संशोधित और परिष्कृत संस्करण पेश किये जा रहे हैं। ऐसा एक उदाहरण 'मज़दूरी-क़ीमत सर्पिल' का सिद्धांत है या फिर अधिक मज़दूरी-दरों को अधिक निवेशों और रोज़गार निर्माण द्वारा प्रभावहीन बना देना, आदि। इनमें से कुछ का अध्ययन हम बाद में करेंगे।

'मज़दूरी का लौह नियम' और 'मज़दूरी कोष सिद्धान्त' का सार था कि मज़दूर कुछ भी क्यों न करे, वह कितना ही कठोर संघर्ष क्यों न करे, वह अपनी हालत सुधारने में क़तई सफल नहीं होगा।

इंटरनेशनल लेबर रिव्यू (अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की पत्रिका) में ज्याँ मॉली ने इसे इस प्रकार के व्याख्यायित किया है :

"इस नियम के अनुसार, श्रम की 'स्वाभाविक क़ीमत' जीवन-निर्वाह लागत और मज़दूर व उसके परिवार को बनाए रखने के लिए आवश्यक या उपयोगी वस्तुओं की क़ीमत पर निर्भर करती है। ठीक इसी समय, श्रम के लिए एक 'प्रचलित क़ीमत' है जो मज़दूर वास्तविक रूप में प्राप्त करता है और जो पूर्ति और

माँग की तात्कालिक परिस्थिति पर निर्भर करती है मगर जिसकी सदा स्वाभाविक क़ीमत से गहन संबंध की प्रवृत्ति पायी जाती है।"

वास्तव में, अगर प्रचलित मज़दूरी कुछ समय के लिए श्रम की 'स्वाभाविक क़ीमत' से कम हो जाए, तो परिणामी ग़रीबी और अधिक मृत्यु-दर श्रम-शक्ति के आकार को कम कर देंगे और श्रम की पूर्ति में आने वाली कमी से इसकी क़ीमत बढ़ जाएगी। इसके विपरीत, श्रम की 'स्वाभाविक क़ीमत' से ऊपर मज़दूरी के स्तर में कोई भी वृद्धि आने वाले समय में पहले जनसंख्या में और इसके बाद उपलब्ध मज़दूरों की संख्या में वृद्धि करेगी जिससे मज़दूरी के स्तर में 'स्वाभाविक क़ीमत' के अनुरूप कमी आ जाएगी। वास्तव में श्रम की कुल माँग सदैव 'मज़दूरी कोष' द्वारा निर्धारित होती है जोकि मज़दूरी के भुगतान के लिए उपलब्ध पूँजी की मात्रा के अनुरूप होती है, जबकि श्रम की पूर्ति विशुद्ध रूप से जनसंख्यात्मक तत्त्वों पर निर्भर करती है, क्योंकि मज़दूरी मज़दूरी कोष और मज़दूरों की संख्या के भागफल द्वारा नियंत्रित होती है, जनसंख्यात्मक उतार-चढ़ाव इस भागफल को पुन: स्वाभाविक मज़दूरी की ओर ले जाएँगे।

मार्क्स ने यह प्रदर्शित करके इन सिद्धान्तों का सैद्धान्तिक खंडन किया कि मज़दूरी में भौतिक और सामाजिक न्यूनतम, दोनों ही सम्मिलित होते हैं और सामाजिक न्यूनतम सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों के साथ बदलता है। उन्होंने सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों को आकार देने व उद्दीपित करने और इस प्रकार मज़दूरी के सामाजिक न्यूनतम में परिवर्तन लाने में ट्रेड यूनियनों की ज़बर्दस्त भूमिका की ओर संकेत किया।

तथाकथित 'लौह-नियम' पर प्रहार करते हुए मार्क्स ने दिखाया कि लाभ की शक्ल लेते हुए अतिरिक्त मूल्य की क़ीमत पर मज़दूरी में वृद्धि की जा सकती है।

मज़दूर मज़दूरी में बढ़ोत्तरी हासिल कर सकते हैं, यद्यपि पूँजीवादी उत्पादन की सामान्य प्रवृत्ति औसत मज़दूरी स्तर और उत्पादन में मज़दूरी के अंश में कमी करना है। ये अनुपात अनेक तत्त्वों द्वारा तय होते हैं जिनमें से स्वयं मज़दूरों का संघर्ष सर्वप्रमुख है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को भी ख़ारिज कर दिया कि वस्तुओं की क़ीमतें मज़दूरी के स्तर द्वारा निर्धारित होती हैं, जिसे मज़दूरी-क़ीमत सर्पिल सिद्धान्त के प्रवर्तक बार-बार दोहराते हैं।

स्वयं ज़िंदगी ने इन सिद्धान्तों के दीवालियेपन को जगज़ाहिर कर दिया है हालाँकि आज भी उन्हें नये-नये रूपों में सजाकर प्रस्तुत किया जाता है।

इसलिए अब हम मज़दूरी को इसकी विभिन्न विशेषताओं के संदर्भ में और जैसाकि हमारे दिन-प्रतिदिन के कार्यों में साधारणतया समझा जाता है, परिभाषित करेंगे :

मज़दूरी, जैसाकि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में परिभाषित किया

गया है, का अर्थ है, मुद्रा के रूप में व्यक्त किये जा सकने वाले सभी भुगतान जो, यदि रोज़गार की शर्तें, चाहे प्रकट या फिर अंतर्निहित, पूरी होती हों, अपने रोज़गार के बदले अथवा ऐसे रोज़गार में किये गये कार्य के बदले मज़दूर को देय हैं। इसमें निम्नलिखित चीज़ें शामिल हैं :

(i) ऐसे भत्ते (महँगाई भत्ते समेत), जिनका मज़दूर फ़िलहाल हक़दार है;

(ii) किसी घरेलू निवास या प्रकाश की आपूर्ति; पानी, चिकित्सा-तीमारदारी या दूसरी सुविधा या कोई सेवा या खाद्यान्नों और दूसरी वस्तुओं की रियायती आपूर्ति का मूल्य;

(iii) कोई यात्रा संबंधी रियायत; मगर इसमें ये चीज़ें शामिल नहीं हैं— (क) कोई बोनस, (ख) किसी पेंशन कोष अथवा भविष्यनिधि अथवा फ़िलहाल लागू किसी नियम के तहत मज़दूर के फ़ायदे के लिए नियोक्ता के द्वारा दिया योगदान या देय; (ग) सेवा के ख़त्म होने पर देय ग्रेच्युटी।

सभी अधिनियमों में इस परिभाषा का पालन नहीं किया जाता है। कुछ अधिनियमों में बोनस सम्मिलित है जबकि अन्य दूसरे भत्ते या तो वर्जित हैं या सम्मिलित हैं, जैसी भी स्थिति हो। हरेक स्थिति में, हमें ठीक-ठीक परिभाषा देखनी होगी।

—**नाममात्र की मज़दूरी** किसी समय पर मुद्रा रूप में व्यक्त मज़दूरी है। यह मज़दूर द्वारा अपने कार्य के बदले प्राप्त नक़द भुगतान है। मगर मौद्रिक मूल्य क़ीमतों में वृद्धि के कारण लगातार बदलता रहता है। अतः,

—**वास्तविक मज़दूरी** का आशय उन वस्तुओं और सेवाओं से है जिन्हें मज़दूर अपनी मौद्रिक मज़दूरी से ख़रीद सकता है। यह मज़दूरों की वास्तविक क्रयशक्ति की द्योतक है। यदि मौद्रिक मज़दूरी में वृद्धि होती है, मगर भोजन, वस्त्र, मकान और अन्य आवश्यकताओं की लागत इससे भी अधिक बढ़ जाती है, तो वास्तविक मज़दूरी कम हो जाती है जो मज़दूर और उसके परिवार के लिए कठिनाई पैदा करती है। इसे महँगाई भत्ते की क्रियाविधि द्वारा दुरुस्त किया जाता है।

—**महँगाई भत्ता** आवश्यक रूप से एक ऐसा भुगतान है जो वेतन-भोगी ख़ासकर कम वेतन-भोगी को दो वक़्त की रोटी कमाने अथवा क़ीमतों में वृद्धि के कारण बढ़ी हुई जीवन निर्वाह लागत को प्रभावहीन कर अपने स्वाभाविक जीवन स्तर को बनाये रखने के क़ाबिल बनाता है। यह एक मज़दूर की वास्तविक मज़दूरी में होने वाली भारी क्षति को रोकने की कार्यविधि।[2] ऐतिहासिक रूप में, भारत के अधिकांश उद्योगों में मज़दूरों की मज़दूरी दो भागों से बनी होती है—एक 'आधारभूत मज़दूरी' और दूसरा 'महँगाई भत्ता'।

—मज़दूरों को मज़दूरी की दरों का भुगतान एक निश्चित समय के लिए या फिर कार्य की एक निश्चित मात्रा के लिए किया जाता है।

समय दर : इस व्यवस्था के अंतर्गत, मज़दूरों को एक निश्चित मज़दूरी एक घंटे, एक दिन, एक सप्ताह या एक माह काम करने के बदले दी जाती है। 'अतिरिक्त समय' भुगतानों की गणना साधारणत: घंटों के आधार पर की जाती है।

वस्तु दर : इस व्यवस्था के अंतर्गत, मज़दूरों को एक निश्चित मात्रा में किये गये कार्य के लिए एक निश्चित भुगतान होता है।

परिणामानुसार भुगतान, उत्पादकता पर आधारित मज़दूरी आदि उत्पादन और उत्पादकता बढ़ाने हेतु मज़दूरों को एक मौद्रिक प्रोत्साहन देने के लिए वस्तु दर के ही रूपभेद अथवा समय और वस्तु दरों का ही मिश्रण हैं।

एक ओर वे पूँजीवादी शोषण को मज़बूत करते हैं, हालाँकि दूसरी ओर वे मज़दूर की पहलक़दमी और आत्मसंयम का विकास करते हैं। इन सभी की प्रवृत्ति मज़दूर की व्यक्तिगत मज़दूरी को औसत से ऊपर बढ़ाने की है जबकि स्वयं औसत में ही कटौती कर दी जाती है। इस तरह का अंतर्विरोध पाया जाता है।

इसके आगे, औसत से कम कुशलता वाले मज़दूर को उत्पादन प्रक्रिया से बाहर फेंक देने की संभावना बनी रहती है।

—एक मज़दूर का पारिश्रमिक या आय, उसकी मज़दूरी से अलग वह मौद्रिक योग है जो वह उदाहरणार्थ अतिरिक्त समय भुगतान समेत विभिन्न मदों के अंतर्गत प्राप्त करता है।

—**श्रम लागत** का आशय मुद्रा के रूप में व्यक्त मज़दूरी, अन्य भुगतान अथवा नियोक्ता द्वारा अपनी समूची श्रम-शक्ति के लिए खर्च किये व्यय (जैसे सामाजिक सुरक्षा, प्रशिक्षण लागत आदि) के कुल मूल्य से है। श्रम लागत नियोक्ता की कुल उत्पादन लागत का एक अंश है।

टिप्पणियाँ :

1. संदर्भ मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र पर कोई भी व्याख्यान टिप्पणियाँ।
2. तालिका देखें, जिसमें उपभोक्ता मूल्य सूचकांक सहित नाममात्र और वास्तविक मज़दूरी की प्रवृत्ति को दिखाया गया है।

ज़रूर पढ़ें :

1. पूँजी, प्रथम भाग के पहले कुछ अध्याय : कार्ल मार्क्स
2. मज़दूरी नियमावली : अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा प्रकाशित
3. मज़दूरी दर एवं पूँजी : कार्ल मार्क्स
4. मूल्य, क़ीमत और लाभ : कार्ल मार्क्स
5. ट्रेड यूनियनवादियों के लिए अर्थशास्त्र : एम० अच्युतन
6. मज़दूरी के संबंध में आँकड़ा-पुस्तिका : एम० अच्युतन
7. भारत में मज़दूरी : मणिबेन कर संस्थान
8. मज़दूरी नीति के बारे में एटक के दस्तावेज़ : इंदौर सम्मेलन, 1975
9. बोनस आयोग को एटक सम्मेलन का माँगपत्र ('मज़दूरों का बोनस का अधिकार' में प्रकाशित)
10. भारत में वास्तविक मज़दूरी : श्रीकांत पालेकर

पाठ : 12

मज़दूरी का प्रश्न (जारी)

बेहतर मज़दूरी के लिए संघर्ष के दौरान भारतीय मज़दूर वर्ग और इसके विभिन्न घटकों ने अनेक उपलब्धियाँ हासिल की हैं। अनेक वैधानिक प्रावधान हैं, कचहरियों और पंचों के निर्णय हैं, न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय सहित) द्वारा की गयी व्याख्याएँ और निर्णय हैं, वेतन आयोगों, मज़दूरी बोर्डों और न्यूनतम मज़दूरी समितियों की सिफ़ारिशें हैं, द्विपक्षीय वार्ताओं द्वारा किये गये आवर्ती मज़दूरी समझौते हैं, त्रिपक्षीय सम्मेलनों और समितियों द्वारा निकाले गये फ़ार्मूले हैं और क्या नहीं है। कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियों और सिद्धांतों का यहाँ हवाला देना भर काफ़ी होगा जो हमारे देश में मज़दूरी नीति के विकास और मज़दूरी निर्धारण के सिद्धांतों को इंगित करते हैं। कमीशनों, पंचायतों, ट्रिब्यूनलों, अदालतों ने अपने द्वारा अंततः दिये गये निष्कर्षों की पुष्टि करने के लिए अपनी अलग तरह की व्याख्याएँ करने के प्रयास किये हैं। बहुत-सी स्थितियों में वास्तविक रूप में मज़दूरी तय करते हुए आधार के रूप में निरूपित बड़े-बड़े सिद्धांतों को निष्कर्षों में ठीक प्रकार से लागू नहीं किया गया है। वर्तमान व्यवस्था में यह अपेक्षित ही है। मगर फिर भी, मज़दूरी निर्धारण के कुछ आधारभूत सिद्धांत ऐतिहासिक रूप से उत्पन्न हुए हैं और उन्हें महत्व मिला है।

स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर स्थापित अंतरिम सरकार ने निम्नलिखित के लिए एक कार्यक्रम घोषित किया :

(क) श्रम-साध्य उद्योगों में न्यूनतम मज़दूरी का वैधानिक निर्धारण;

(ख) सभी बड़े उद्योगों में मज़दूरी और व्यावसायिक शर्तों का मानकीकरण एवं मज़दूरी की दरों, साथ ही एक उद्योग में विभिन्न व्यवसायों के बीच अंतरों का निर्धारण;

(ग) जहाँ कहीं संभव हो, उद्योग की भुगतान करने की क्षमता का पूरा ध्यान रखते हुए 'उचित मज़दूरी' समझौतों को प्रोत्साहन।

यह उपनिवेशी मज़दूरी व्यवस्था को ख़त्म करने और इसे भारत के पूंजीवादी

विकास के लिए उपयुक्त एक नयी व्यवस्था से प्रतिस्थापित करने का पहला प्रयास था।

—इस तरह न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम 1948 पारित कर दिया गया। इस मुद्दे पर अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन पहले ही एक अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन समझौता, क्रमांक 26 संपन्न कर चुका था। कुछ श्रम-साध्य रोज़गारों (अनुसूची के प्रथम भाग में 12 उद्योग और द्वितीय भाग में कृषि सम्मिलित) में न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम ने मज़दूरी की न्यूनतम दरों को निर्धारित करने के प्रयत्न किये। इस अधिनियम के अंतर्गत, राज्य सरकारों को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार सूची का विस्तार करने के अधिकार प्राप्त थे। यह सोचा गया कि न्यूनतम मज़दूरी को या तो अधिसूचना द्वारा (इस स्थिति में राज्य न्यूनतम मज़दूरी सलाहकार समिति से परामर्श लिया जाना चाहिए) अथवा इस उद्देश्य के लिए नियुक्त त्रिपक्षीय समितियों की सिफ़ारिशों पर विचार कर निर्धारित या संशोधित किया जा सकता है।

दुर्भाग्यवश, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम ने आशाओं को पूरा नहीं किया है सिवा उन स्थानों के जहाँ किसी विशेष उद्योग में मज़दूरों द्वारा चलाये गये संघर्षों से मज़दूरी में वृद्धि हुई है। इसने यह भी साबित किया है कि यह क़ानून की अपेक्षा वर्ग-संघर्ष का समीकरण है जो मज़दूरों की दशा में सुधार के लिए ज़िम्मेदार है।

1966 में सरकार द्वारा नियुक्त एक व्यक्ति की समिति ने महसूस किया कि "सारे पहले से मौजूद मानदंडों में कमी कर दी गयी है और इस तरह न्यूनतम मानक निर्धारित करने के किसी वैज्ञानिक प्रयास के बजाय यह सब विरोधी हितों के बीच एक समझौता प्रतीत होता है।"

1968 में, राष्ट्रीय श्रम आयोग के अनुसार भी, "बहुत-से व्यवसायों में एक बार निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी को लंबे अरसे तक संशोधित नहीं किया गया हालाँकि अधिनियम के अनुसार पुनर्विचार की अवधि पाँच साल से ज़्यादा नहीं बढ़नी चाहिए।"

इस तरह, कुछ स्थितियों में प्रचलित दरें काफ़ी पहले निर्धारित न्यूनतम दरों से ज़्यादा हैं। अन्य स्थितियों में, अधिसूचित दरों को भी लागू नहीं किया गया है। नियोक्ता बिना किसी सज़ा के इसकी अवज्ञा कर सकते हैं। दूसरी स्थितियों में भी, जैसे कृषि में, न्यूनतम दरों को लागू करवाने के लिए कोई संगठन नहीं है।

बहरहाल, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम ने श्रम-साध्य उद्योगों में परिस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित किया और इस तरह आज़ादी के बाद के वर्षों में क़ानूनी घोषणाओं और ट्रेड यूनियन अभियानों के लिए एक आधार प्रस्तुत किया।

1948 में नियुक्त त्रिपक्षीय उचित मज़दूरी समिति ने तीन व्यापक मज़दूरी संबंधी सिद्धांतों को परिभाषित किया और मज़दूरी संरचना सुधारने के लिए कुछ

अस्पष्ट मानदंड निश्चित किये। कमोबेश आज भी ये सिद्धांत वैध हैं :

न्यूनतम मज़दूरी को न सिर्फ़ जीवन-निर्वाह के बुनियादी साधन ही मुहैया कराने चाहिए अपितु उसे मज़दूर की योग्यता को बनाये रखने के लिए भी पर्याप्त होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए, न्यूनतम मज़दूरी कुछ मात्रा में शिक्षा, चिकित्सा संबंधी आवश्यकताओं और सुविधाओं के लिए भी पर्याप्त होनी चाहिए। समिति ने इसे अपने विचार के रूप में रखा कि "राष्ट्रीय आय के लगभग किसी भी स्तर पर न्यूनतम मज़दूरी का एक निश्चित स्तर अवश्य होना चाहिए जो समाज सहन-कर सके; एक स्तर पर तय न्यूनतम मज़दूरी जो रोज़गार कम करती है और इस प्रकार राष्ट्रीय आय में कमी करती है, समाज को स्वीकार्य नहीं हो सकती।"

समिति के अनुसार **जीवन निर्वाह मज़दूरी** एक पुरुष कमाने वाले को अपने और अपने परिवार के लिए न सिर्फ़ भोजन, कपड़ा और मकान की बुनियादी ज़रूरतें पूरा करने बल्कि बच्चों के लिए शिक्षा, ख़राब स्वास्थ्य के ख़िलाफ़ संरक्षण, आवश्यक सामाजिक ज़रूरतों की आवश्यकताएँ और वृद्धावस्था समेत अधिक महत्वपूर्ण विपत्तियों के विरुद्ध बीमे का उपाय सहित सस्ती सुविधाओं की एक मात्रा जुटा सकने के क़ाबिल बनाती है।"

उचित मज़दूरी, सहज रूप से परिभाषित नहीं की जा सकती। मगर समिति ने व्याख्या की है कि "जबकि उचित मज़दूरी की निम्न सीमा ही स्पष्ट रूप से न्यूनतम मज़दूरी होनी चाहिए, उच्च सीमा का निर्धारण व्यापक रूप से उद्योग की भुगतान क्षमता द्वारा तय होता है। यह न सिर्फ़ उद्योग की मौजूदा आर्थिक स्थिति पर निर्भर करेगा बल्कि इसकी भविष्य की संभावनाओं पर भी निर्भर करेगा। इन दो सीमाओं के बीच, वास्तविक मज़दूरी निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर करेगी··· (क) श्रम की उत्पादकता, (ख) उसी या पड़ौस के स्थानों पर प्रचलित मज़दूरी की दर, (ग) राष्ट्रीय आय का स्तर और इसका वितरण, एवं (घ) देश की अर्थ-व्यवस्था में उस उद्योग का स्थान।"

राज्य नीति के निदेशक सिद्धांत : इसी समय के आसपास, संविधान-निर्माताओं को भी मज़दूरी नीति के सवाल और इसकी भविष्यगामी दिशा पर विचार करना पड़ा। अतः निदेशक सिद्धांतों के अंतर्गत, धारा 43 में यह प्रति-पादित किया गया : "उपयुक्त क़ानून अथवा आर्थिक संगठन या किसी और उपाय से राज्य सभी कृषि, औद्योगिक या और किसी क़िस्म के सभी मज़दूरों को काम, जीवन-निर्वाह योग्य मज़दूरी, उपयुक्त जीवन स्तर, ख़ाली समय के पूर्ण उपभोग एवं सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर जुटाने के प्रयास करेगा।"

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत मज़दूरी नीति पर एक त्रिपक्षीय समझौते को क्रियान्वित करने की दिशा में एक बड़ा अग्रगामी क़दम उठाया गया। इसे 1957 में पंद्रहवीं भारतीय मज़दूर अधिवेशन में स्वीकृत किया गया **'आवश्यकता**

पर आधारित न्यूनतम मज़दूरी' के निर्धारण में इसने निम्नलिखित मानदंडों को स्थापित किया :

(क) न्यूनतम मज़दूरी की गणना में मानक मज़दूर वर्ग के परिवार में एक कमाने वाले व्यक्ति के ऊपर तीन उपभोग इकाइयों को लिया जाना चाहिए। स्त्रियों, बच्चों और किशोरों की आय को छोड़ दिया जाना चाहिए।

(ख) न्यूनतम भोजन आवश्यकताओं की गणना सामान्य कामकाज करने वाले एक औसत भारतीय वयस्क के लिए, डॉ० आयक्रॉयड के अनुसार, 2,700 कैलोरी के शुद्ध अंतर्ग्रहण के आधार पर की जानी चाहिए।

(ग) वस्त्र आवश्यकताओं की गणना 18 गज प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति उपभोग के आधार पर की जानी चाहिए जोकि चार लोगों के एक औसत मज़दूर परिवार के लिए कुल 72 गज बैठता है।

(घ) आवास के संबंध में निम्न आय वर्ग के लिए सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास योजना के अंतर्गत किसी भी क्षेत्र में दिये गये मकानों के लिए सरकार द्वारा चार्ज किया जाने वाला न्यूनतम किराया ही मानदंड होना चाहिए; एवं

(ङ) कुल न्यूनतम मज़दूरी का 20 प्रतिशत ईंधन, प्रकाश व्यवस्था और व्यय की दूसरी विभिन्न वस्तुओं के लिए होना चाहिए।

लेकिन शीघ्र ही सरकार और इसके सलाहकारों ने उपरोक्त सभी मानदंडों में कटौती करना और समझौते से पीछे हटना प्रारम्भ कर दिया। तत्कालीन वित्त मंत्री, मोरारजी देसाई ने दूसरे वेतन आयोग को सूचित किया कि "यह बाध्यकारी नहीं है।" इंडियन कौंसिल ऑफ़ मेडिकल रिसर्च की पोषण सलाहकार समिति ने यह विचार रखा कि भोजन की निम्न कैलोरी मात्रा से ही काम चलाना होगा और जितनी मात्रा का डॉ० आयक्रॉयड ने सुझाव दिया है, वह उपलब्ध नहीं है। विशेषज्ञों का एक बड़ा हुजूम, राष्ट्रीय पोषण सलाहकार समिति और अन्य, निम्न मानदंडों की पुष्टि करने में संलग्न हो गये। वेतन आयोग और मज़दूरी बोर्ड यह दिखाने के लिए परस्पर होड़ करने लगे कि 'आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम मज़दूरी' अप्राप्य है और मानदंडों के आँकड़े निदेशक के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकते। नियोक्ताओं ने गणनाएँ, वक्तव्य और प्रस्ताव प्रस्तुत किये जो इतने विद्रोही क़िस्म के थे कि इंजीनियरी उद्योग के लिए नियुक्त केन्द्रीय मज़दूरी बोर्ड के तीन निर्देलीय सदस्यों (अध्यक्ष समेत) को कहना पड़ा, "हम इस (नियोक्ताओं के) दावे को नहीं स्वीकार कर सकते। यह कहना ही काफ़ी होगा कि यह वक्तव्य इतना बचकाना है कि किसी भी टिप्पणी की ज़रूरत ही नहीं है।"

निश्चय ही, नियोक्ताओं पर बचकानेपन का आरोप नहीं मढ़ा जा सकता।

ज़्यादा-से-ज़्यादा अतिरिक्त मूल्य निचोड़ने और मज़दूरों के लिए बुनियादी न्यूनतम ज़रूरतों से भी इंकार कर देने के रूप में यह उनका वर्गीय दृष्टिकोण था जो अभिव्यक्त हुआ।

केवल कटु संबंधों ने ही मज़दूरों को एक बेहतर मज़दूरी संरचना की दिशा में क़दम-ब-क़दम बढ़ने में मदद की। कुछ महत्वपूर्ण लड़ाइयाँ अदालतों में लड़ी गयीं। फलस्वरूप, कुछ सिद्धांत विकसित किये गये। कुछ नाम इस प्रकार हैं :

न्यूनतम मज़दूरी और भुगतान क्षमता : क्राउन एल्यूमिनियम वर्क्स बनाम इसके कर्मचारियों के मुक़दमे में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा (1958 एल० एल० जे०), "एक सिद्धांत, बहरहाल, ऐसा है जिसका कोई अपवाद नहीं है। किसी भी उद्योग को बने रहने का अधिकार नहीं है अगर वह अपने कर्मचारियों को कम-से-कम बुनियादी न्यूनतम मज़दूरी का भुगतान कर पाने में समर्थ नहीं है।"

एक्सप्रेस अख़बार बनाम इसके कर्मचारियों के मुक़दमे में सर्वोच्च न्यायालय ने दोनों के बीच संबंध को और अधिक विस्तार से समझाया। (1961 एल० एल० जे०)

उद्योग व क्षेत्र सिद्धांत : हिंदुस्तान मोटर्स बनाम कर्मचारी (1962), फ्रांसीसी मोटर कार कंपनी बनाम कर्मचारी (1962), ग्रीव्ज़ कॉटन एंड कंपनी बनाम कर्मचारी (1964), कमानी मेटल्स एंड एलॉयज़ लिमिटेड बनाम कर्मचारी (1967) आदि मुक़दमों में सर्वोच्च न्यायालय ने विस्तार से यह सिद्धांत समझाया है।

पहले से ही निर्णीत मुक़दमे का सिद्धांत : सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि पहले से ही निर्णीत मुक़दमे के सिद्धांत को वर्जित कर दिया गया है, क्योंकि मज़दूरों की मज़दूरी को जीवन निर्वाह योग्य मज़दूरी, जो स्वयं बदली हुई परिस्थितियों में बढ़ती है, की दिशा में बढ़ाने का प्रयास एक चिरस्थायी प्रयास है।

मज़दूरी का मानकीकरण : प्रारम्भ में किसी उद्योग-क्षेत्र में ट्रेड यूनियनों का प्रयास मज़दूरों की मज़दूरी को एक सामान्य मानक के बराबर लाने का रहा है। मज़दूरी के मानकीकरण के प्रयत्न के साथ ही उपस्थिति, व्यवसायों की परिभाषा और उनके काम की अंतर्वस्तु के मानकीकरण का प्रयास भी हुआ है। इसका उद्देश्य कार्यों के ग़लत वितरण और तदनुरूप मज़दूरी में कटौती द्वारा मज़दूरों पर हमला करने के नियोक्ताओं के अधिकार को कम करना है। इसने व्यवसायों और हस्तशिल्पों के श्रेणीकरण एवं साथ ही समयानुसार पदोन्नति के लिए भी परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। मानकीकरण के लिए संघर्ष बंबई के कपड़ा मज़दूरों के साथ प्रारंभ हुआ। इसने बैंक कर्मचारियों के दीर्घकालीन राष्ट्रीय स्तर के संघर्ष के साथ ही नयी ऊँचाइयों को छुआ जिसके दौरान उन्होंने सफलतापूर्वक एक मज़बूत अखिल भारतीय संगठन का निर्माण किया और अक्तूबर 1966 में एक सामूहिक समझौते

द्वारा नये उद्योगानुसार और भारत-व्यापी मानकीकृत मज़दूरी संरचना लागू करवाने में सफल हुए।

बिजली कर्मचारियों और अन्य दूसरे केंद्र व राज्य कर्मचारियों के संघर्ष द्वारा समर्थित सार्वजनिक क्षेत्र कर्मचारियों के 'बराबर मज़दूरी' की माँग के साथ इस मुद्दे पर गुणात्मक रूप से नयी ऊँचाइयाँ हासिल कर ली गयी हैं।

वेतनवृद्धि और वेतनमान : 1953 में बैंकों के लिए गठित शास्त्री ट्रिब्यूनल ने कहा कि "वार्षिक वेतनवृद्धि सहित समयबद्ध वेतनमान ही अब वेतनमान का आदर्श ढाँचा माना जाता है।" मज़दूरों के परिवार की बढ़ती हुई ज़रूरतों, उच्च-अनुभव, समय के साथ-साथ निखरती कार्यकुशलता और एक ऐसी व्यवस्था ने, जो तर प्रबंधकों की सनकों पर निर्भर नहीं करती, इसे आज की तारीख़ में अत्यावश्यक और सर्वस्वीकृत बना दिया है। वेतनमान का क्रियान्वयन पदोन्नति के अवसरों एवं अन्य कारकों पर निर्भर वेतनमान के न्यूनतम व अधिकतम और इसकी अवधि के निर्धारण से जुड़ा हुआ है।

मज़दूरी विभेद : मज़दूरी में पाये जाने वाले विभेद महँगाई भत्तों की एक जैसी और दूरदर्शितापूर्ण दरों के भुगतान और कम आय पाने वाले मज़दूरों को ज़्यादा-से-ज़्यादा फ़ायदे हासिल करने के ट्रेड यूनियनों के प्रयासों के कारण प्रायः कम हो गये हैं। प्रारंभ में, यह ज़रूरी था। मगर अब, बहुत-से उद्योगों में मज़दूरी संरचना इस प्रकार की है कि दक्षता प्राप्त करने या अधिक ज़िम्मेदारियाँ लेने के लिए कोई प्रेरणा नहीं रही है। इसीलिए मज़दूरी विभेद का सवाल इतना महत्व-पूर्ण हो उठा है। इसमें कार्य के मूल्यांकन का मुद्दा और दक्षता की अवस्था, कार्य का दबाव, आवश्यक प्रशिक्षण, अंतर्निहित अनुभव, स्वीकार की गयी ज़िम्मेदारी, कार्य में निहित जोखिम और इसी प्रकार के अन्य तत्व शामिल हैं। जहाँ कहीं इस तरह के कार्यात्मक मूल्यांकन का प्रयास होता है, ट्रेड यूनियनों को बारीक़ी से देखना होता है कि मूल्यांकन वैज्ञानिक हो और विभिन्न श्रेणियों के बीच मतभेद भड़काने वाला न हो। केवल यूनियन की हिस्सेदारी ही इसकी वस्तुनिष्ठता और स्वीकार्यता को सुनिश्चित कर सकती है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के एक अधिवेशन में लिंग पर आधारित किसी भी भेद के बिना एक जैसे कार्य के लिए **पुरुष और स्त्री मज़दूरों को एक जैसा पारि-श्रमिक** देने का प्रतिपादन किया गया है। संविधान की धारा 39(द), राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में अंकित है : "राज्य, विशेषकर, अपनी नीति इस उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु बनायेगा कि एक ही कार्य के लिए पुरुष और स्त्री दोनों को एक समान वेतन प्राप्त हो।"

ट्रेड यूनियनों को यह सुनिश्चित करना होगा कि मज़दूरी के निर्धारण में इस सिद्धांत का पालन किया जाये।

अतिरिक्त लाभ : ये मज़दूरों की मज़दूरी के पूरक हैं और संगठित उद्योगों में, जहाँ ट्रेड यूनियनें मज़बूत हैं, वे द्विपक्षीय वार्ताओं और मज़दूरी संबंधी समझौतों के मुख्य तत्व बन गये हैं। इन लाभों में सवेतन अवकाश और छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा योगदान (क़ानूनी प्रावधानों के अतिरिक्त), मज़दूरों और उनके परिवार के सदस्यों के लिए चिकित्सा भत्ते और सुविधाएँ, सहायता प्राप्त कैंटीन, शिशुगृह, अवकाश-आवास, रियायती अवकाश यात्रा, भवन निर्माण सहायता, व्यावसायिक भत्ते आदि शामिल हैं। उनकी विभिन्न क़िस्में और मज़दूरों के वेतन में उनका अनुपात ट्रेड यूनियनों की दक्षता पर निर्भर करता है। जब मज़दूर 'अतिरिक्त लाभों' की माँग करते हैं, वे उस मूल्य में से एक बेहतर हिस्से की माँग कर रहे होते हैं जिसे उन्होंने स्वयं पैदा किया है। अतिरिक्त लाभों पर विचार किये बिना मज़दूरों के जीवन स्तर के बारे में इन दिनों कोई भी चर्चा अपूर्ण है।

मज़दूरी निर्धारण की विधियाँ : न्यूनतम मज़दूरी समितियों और असंगठित उद्योगों के संदर्भ में सरकारी अधिसूचनाओं से लेकर निर्णयादेशों, वेतन आयोगों, मज़दूरी बोर्डों, पंच-फ़ैसलों और मज़दूरी समझौतों की ओर बढ़ती अंतिम द्विपक्षीय वार्ताओं तक ये मौजूद हैं। संगठित क्षेत्र में, द्विपक्षीय वार्ताएँ, या दूसरे शब्दों में, **सामूहिक सौदेबाज़ी** मानदंड बनती जा रही है। दरअसल यह इन उद्योगों में ट्रेड यूनियन आंदोलन द्वारा अर्जित ताक़त और परिपक्वता का माप है। सरकार का प्रयास इस तरह के उपायों द्वारा जैसे सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो के निर्देशों को ज़ारी कर, किसी-न-किसी रूप में मज़दूरी वृद्धि को उत्पादकता से जोड़ने पर बल देकर, नयी बातचीत में विलंब कर, अधिसूचना द्वारा मज़दूरी और भत्तों को निर्धारित कर जैसाकि सामान्य बीमा कर्मचारियों के साथ किया गया, एकपक्षीय अधि-सूचनाएँ ज़ारी कर और इसी तरह के अन्य उपायों द्वारा सामूहिक सौदेबाज़ी पर रोक लगाना या उसे सीमित कर देना रहा है। 'हड़ताल पर रोक' एवं 'अनिवार्य पंच-फ़ैसलों' का उद्देश्य भी समानता के क़ानूनी मानदंड को नकारना है जोकि सामूहिक सौदेबाज़ी में अंतर्निहित है।

मज़दूर वर्ग इन हमलों का प्रतिरोध कर रहा है।

ज़रूर पढ़ें :

1. ट्रेड यूनियनवादियों के लिए अर्थशास्त्र : एम० अच्युतन
2. भारत में मज़दूरी : मणिबेन कर संस्थान
3. ताज़ा मज़दूरी समझौते : एटक प्रकाशन
4. हाल के मज़दूरी समझौते : एटक प्रकाशन

पाठ : 13

महँगाई भत्ते का प्रश्न

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान और युद्ध के बाद के वर्षों में क़ीमतों में होने वाली वृद्धि ने मज़दूरों की क्रयशक्ति को गंभीर रूप से नुक़सान पहुँचाया, जिन्हें मज़दूरी के रूप में पहले ही बेहद कम वेतन मिलता था। इसने बंबई और अहमदाबाद के कपड़ा मज़दूरों को सड़कों पर आने के लिए मजबूर कर दिया। भयंकर हड़ताली संघर्ष हुए और पहली जीवन लागत भत्ते की लड़ाई जीत ली गयी। शीघ्र ही ये भत्ते छीन लिये गये और मंदी (1929-34) के दौरान मज़दूरी में कटौतियाँ थोप दी गयीं।

द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने के साथ ही क़ीमतें फिर से बढ़ने लगीं और 1940 में बंबई कपड़ा मज़दूरों को फिर से छह माह तक खिंचने वाली 'महँगाई' हड़ताल करनी पड़ी। पहले कपड़ा मज़दूर और फिर रेलवे मज़दूरों द्वारा महँगाई भत्ते के सिद्धांत पर विजय मिली। धीरे-धीरे अन्य तबक़ों में भी इसका प्रसार हुआ। निष्प्रभावन की सीमा में कमी करने, राहत में, जितना हो सके, विलंब करने और मूल्य सूचकांक में वृद्धि के साथ स्वचालित रूप से महँगाई भत्ते को जोड़ने से इंकार करने की कोशिशें कर नियोक्ताओं ने हर क़दम पर इसका विरोध किया।

पचास के दशक में विकास कार्यों के लिए पूँजीवादी नियोजन के साथ ही उन्मुक्त स्फीतिकारी सर्पिल ने इसे औद्योगिक विवादों के एक बड़े मुद्दे में बदल दिया।

मज़दूर न सिर्फ़ स्वयं के लिए उपयुक्त और तत्काल महँगाई भत्ता पाने के लिए लड़े बल्कि क़ीमत-रेखा को रोकने के लिए प्रभावी क़दम उठाये जाने के लिए भी लड़े क्योंकि सिर्फ़ इसी तरह से ही व्यापक आम जनता अपने जीवन स्तर को सुरक्षित रख सकती थी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली और राज्य द्वारा अनाज के थोक-व्यापार का अधिग्रहण करने की माँग करते हुए साठ के दशक में अनेकों ज़बर्दस्त कार्रवाइयों और 'बंधों' ने समूचे देश को हिला डाला। इसकी परिणति अंतत: 1968 में श्री पी०बी० गजेन्द्रगडकर की अध्यक्षता में गठित महँगाई भत्ता आयोग की स्थापना में हुई।

इस बीच विभिन्न उद्योगों में अपनी कार्रवाइयों के द्वारा ट्रेड यूनियनों ने महँगाई भत्ता प्राप्त कर लिया। आयोगों, न्यायादेशों और द्विपक्षीय समझौतों के द्वारा विभिन्न फ़ार्मूले तैयार किये गये।

इस क्षेत्र में विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हैं, जैसे समान-दर प्रणाली, क्रमबद्ध-मान प्रणाली, प्रतिशत के रूप में वेतन से संबद्ध महँगाई भत्ता, सूचकांक की प्रति अंक दर द्वारा मूल्य सूचकांक से संबद्ध महँगाई भत्ता और सूचकांक का एक विशेष अंक जिसके ऊपर यह देय हो जाता है, आदि। बहरहाल, साधारणतः कम वेतन पाने वाले कर्मचारियों की मुआवज़े का एक बड़ा अनुपात पाने की प्रवृत्ति रही है। अधिक मज़दूरी और वेतनों की तुलना में निम्न मज़दूरी के संदर्भ में निष्प्रभावन अधिक रहा है।

इस मुद्दे पर अनेक सुप्रसिद्ध क़ानून बनाये गये हैं। मगर महँगाई भत्ता निर्धारित करने के लिए अनेकों अधिकारियों और समझौतों के परिणामस्वरूप निष्प्रभावन की दर, मूलभूत मज़दूरी जिससे यह संबद्ध है, सूचकांक का अंक जहाँ से यह लागू हो जाता है, महँगाई भत्ते का पुनरीक्षण करने के लिए अर्हता अवधि, आदि के बारे में पर्याप्त भिन्नताएँ पायी जाती हैं। महँगाई भत्ते के निर्धारण में एकरूपता का अभाव सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। अतः संघर्ष कम-से-कम विलम्ब और उन्हीं पदों पर कार्यरत कर्मचारियों के बराबर ज्यादा-से-ज्यादा संभव पूर्ण निष्प्रभावन प्राप्त करने के लिए रहा है। अपनी निर्भीक और एकजुट कार्रवाइयों के द्वारा राज्य सरकारी कर्मचारियों की ट्रेड यूनियनें व संघ केंद्र सरकार द्वारा स्वीकृत महँगाई भत्ता प्राप्त करने और अपने विरुद्ध प्रयुक्त पक्षपातपूर्ण भेद-भाव को हटाने में सफ़ल रहे हैं।

महँगाई भत्ते की दर में कटौती करने के सारे प्रयासों के खिलाफ़, जिन पर पहले समझौता हो चुका था, बैंक कर्मचारी मुक़ाबला करने में सफल हुए हैं।

गजेन्द्रगडकर महँगाई भत्ता आयोग ने इस टिप्पणी के साथ अपनी रिपोर्ट पेश कीं कि,

"महँगाई भत्ते का आशय वेतनों के वास्तविक मूल्यों में आने वाली कमी को निष्प्रभावित करना नहीं है; इसे क़ीमतों में वृद्धि के खिलाफ़ जीवन निर्वाह स्तर पर या इससे कुछ ऊपर वेतनभोगियों को संरक्षण प्रदान करने के लिए बनाया गया है ···जीवन निर्वाह स्तर पर या इससे कुछ ऊपर कर्मचारियों के संबंध में, नियोक्ता के रूप में सरकार का मूल्य वृद्धि से पैदा होने वाली कठिनाइयों के खिलाफ़ उन्हें सुरक्षा देने के लिए महँगाई भत्ता देने का दायित्व निर्विवाद है। भारत में औद्योगिक न्यायादेश में यह दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि संगठित उद्योग में अपने कर्मचारियों को अधिक न सही, कम-से-कम जीवन निर्वाह योग्य मज़दूरी देना, नियोक्ता का कर्तव्य है। यह सिद्धांत इस उपसिद्धांत को जन्म देता है कि नियोक्ता को महँगाई

भत्ते के द्वारा जीवन निर्वाह स्तर पर मज़दूरों के वेतनों में एक ऐसी राशि जोड़ देनी चाहिए जो उन्हें तेज़ी से बढ़ती क़ीमतों की स्थिति में स्वयं को बनाये रखने के योग्य बना दे···।"

यद्यपि श्री गजेन्द्रगडकर की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय श्रम आयोग ने ग़ैर-अनुसूचित रोज़गारों में न्यूनतम मज़दूरी स्तर पर 95 प्रतिशत निष्प्रभावन और उच्चतर स्तरों के लिए, इस आधार पर कि ऐसे कर्मचारियों को विकास लागत में हिस्सा बँटाना चाहिए, कम दर पर निष्प्रभावन की सिफ़ारिश की है, विभिन्न संगठित उद्योगों में ट्रेड यूनियन कार्रवाइयों के फलस्वरूप 100 प्रतिशत निष्प्रभावन, यहाँ तक कि न्यूनतम मज़दूरी स्तर से ऊपर भी, प्राप्त कर लिया गया है। इसका मतलब निम्न स्तरों पर 100 प्रतिशत से कुछ ऊपर ही है। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार, इसके पीछे निहित कारण यह वास्तविक आधार रहा है कि कीमतों में वृद्धि के कारण अत्यधिक कम वेतन पाने वालों की कठिनाइयाँ उससे कहीं ज़्यादा हैं जैसाकि मूल्य सूचकांक में वास्तविक रूप में प्रतिबिम्बित है।

बहरहाल, उच्चतर आय समूहों को देय महँगाई भत्ते पर रोक सामान्यतः स्वीकृत कर ली गयी है, हालाँकि किसी भी ख़ास सीमा को अलंघ्य नहीं माना जा सकता।

मज़दूरी जाम करने के अपने प्रयास के हिस्से के रूप में सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो ने यह प्रतिपादित किया कि सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों के लिए महँगाई भत्ता जीवन सूचकांक लागत में प्रत्येक अंक की वृद्धि (या गिरावट) के लिए 1.30 रुपये की दर पर स्थिर कर देना चाहिए। इससे विरोध का तूफ़ान खड़ा हो गया और 28 जनवरी, 1983 को सारे देश में एक दिन की हड़ताल की धमकी के बाद सरकार फ़ार्मूले को संशोधित करने पर सहमत हो गयी। एक समिति का गठन कर दिया गया। लंबी वार्ताओं के बाद, समिति ने सिफ़ारिश की कि दर को संशोधित कर 1.65 प्रति अंक कर दिया जाए।

इस बीच महँगाई भत्ते के सवाल पर चतुर्थ वेतन आयोग ने निम्नलिखित सिफ़ारिशें कीं :

(क) 608 सूचकांक (1960=100) के ऊपर बारहमासी औसत की दर से क़ीमत वृद्धि के लिए क्षतिपूर्ति दी जाए, जिससे वेतनमान संबंधित हैं।

(ख) वर्ष में दो बार क्षतिपूर्ति का भुगतान हो जो मार्च और सितम्बर के वेतन के साथ देय हो।

(ग) प्रस्तावित वेतनमानों में, 3500 रुपये तक वेतन प्राप्त करने वाले कर्मचारियों को 100 प्रतिशत, 3,501 से 6,000 रुपये तक प्राप्त करने वालों को 75 प्रतिशत और 6,000 रुपये से अधिक प्राप्त करने वालों

को 65 प्रतिशत निष्प्रभावन दिया जाए जिसमें थोड़े-बहुत समायोजन की गुंजाइश हो।

महँगाई भत्ता निर्धारण की इस या उस प्रणाली के सापेक्षिक लाभों ने संगठित क्षेत्र में मज़दूरों और कर्मचारियों के विभिन्न तबक़ों को वार्ताओं के दौरान किसी-न-किसी एक प्रणाली को चुनने के लिए मजबूर कर दिया है। इस सवाल पर इसने और अधिक अस्थिरता पैदा करने में मदद की है।

महँगाई भत्ते का मुद्दा हमें उपभोक्ता मूल्य सूचकांक के सवाल से भी रूबरू करता है। ये सूचकांक श्रम ब्यूरो द्वारा एकत्र किये गये हैं। जैसाकि स्वयं ब्यूरो द्वारा परिभाषित है :

"उपभोक्ता मूल्य सूचकांक बनाने का उद्देश्य उन चुनिंदा वस्तुओं और सेवाओं के खुदरा मूल्य स्तर में एक निश्चित अवधि में होने वाले परिवर्तनों को मापना है जिन पर आम उपभोक्ता या विशिष्ट समूह के लोग (जैसे किसी विशेष शहर में मज़दूर वर्ग आबादी) अपनी आय ख़र्च करते हैं।" क़ीमतों में परिवर्तन किसी विशेष वर्ष, जिसे 'आधार वर्ष' कहा जाता है, के संदर्भ में पाये जाते हैं।

यह निर्धारित सूची **'वस्तुओं और सेवाओं की टोकरी'** के रूप में जानी जाती है और इसे आबादी के एक नमूने में किये गये परिवार बजट सर्वेक्षण से ज्ञात किया जाता है। जनसंख्या के एक विशिष्ट तबक़े के परिवार बजट में प्रत्येक मद का उपभोग व्यय में एक निश्चित 'वज़न' है और मदों की क़ीमतों में उतार-चढ़ावों का, जिनका बहुत ज़्यादा 'वज़न' है, स्पष्ट रूप से बजट पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है और तदनुसार मूल्य सूचकांक में उन्हें प्रतिबिम्बित किया जाना चाहिए। यहाँ, सिवा निम्न पर बल देने के निहित सांख्यिकीय और गणितीय ब्यौरों में जाना ज़रूरी नहीं :

यह 'टोकरी' हमेशा स्थिर और अपरिवर्तित नहीं रहती क्योंकि परिस्थितियाँ, आदतें और जीवन स्तर के सिद्धांत बदलते रहते हैं।

यह भी स्पष्ट है कि जनता के विभिन्न हिस्सों के साथ-साथ यह 'टोकरी' भी बदलती है और इसीलिए विभिन्न वस्तुओं की क़ीमतों में परिवर्तन भिन्न-भिन्न हिस्सों को अलग-अलग तरह से प्रभावित करते हैं। इन परिवर्तनों को मापने वाले मूल्य सूचकांक भी, जाहिर है, भिन्न-भिन्न होंगे। यह नीचे दी हुई तालिका से देखा का सकता है :

औद्योगिक मज़दूरों के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक			खेतिहर मज़दूरों के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक		
			(1960=100)		
वर्ष	सामान्य	भोजन	वर्ष	सामान्य	भोजन
1971	190	203	1971-72	200	215
1974	304	342	1974-75	368	413
1977	321	343	1977-78	323	349
1980	390	406	1980-81	409	448
1982	475	498	1981-82	448	492
1986	661	685	1982-83	481	527
1987 मई	703	727	1983-84	522	573
			1984-85	525	569
			1985-86	555	600
			1986-87	578	623
			जून 1987	588	633

नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट है कि किस प्रकार क़ीमतों में वृद्धि हो रही है और परिणामस्वरूप एक और महँगाई भत्ते के मुद्दे और दूसरी ओर क़ीमत रेखा पर नियंत्रण के लिए संघर्ष ने ट्रेड यूनियन आंदोलन के लिए कितना अधिक महत्व ग्रहण कर लिया है। क़ीमतों और निर्देशित क़ीमतों में वृद्धि का मुद्दा हाल में अनेकों 'बंदों' और औद्योगिक कारंवाइयों के केंद्र में रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

अखिल भारतीय औसत उपभोक्ता मूल्य सूचकांक

(औद्योगिक मज़दूरों के लिए) आधार : 1960=100

वर्ष	सूचकांक	वर्ष	सूचकांक
1965	137	1987 (जनवरी)	688
1970	184	" (फ़रवरी)	686
1975	321	" (मार्च)	686
1980	390	" (अप्रैल)	691
1985	608	" (मई)	703
1986	661	" (जून)	715
		" (जुलाई)	724
		" (अगस्त)	736
		" (सितम्बर)	745

श्रम ब्यूरो द्वारा एकत्रित उपभोक्ता मूल्य सूचकांक, जिस पर इतना कुछ निर्भर करता है, स्वयं कटु औद्योगिक विवाद का विषय बन गया है। जीवन के अनुभव से मज़दूरों ने देखा है कि बढ़ती हुई क़ीमतें, जिनका वे हर रोज़ मुक़ाबला करते हैं, मुश्किल से ही उपभोक्ता मूल्य सूचकांक में अभिव्यक्त हुई हैं। यह आशंका उत्पन्न हुई कि सरकार द्वारा उन्हें अपने हिसाब से तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है और घोषित सूचकांक सांख्यिकीय तथ्य नहीं था बल्कि राजनीतिक निर्णय था।

20 अगस्त, 1983 के बम्बई बंद समेत स्थायी विरोध ने इन आरोपों की जाँच हेतु एक समिति की नियुक्ति को प्रेरित किया। और सच्चाई सामने आ गयी यद्यपि लकड़वाला समिति (जैसाकि इसे जाना जाता था) ने सरकार के हित में इसे मुलायम बनाने का प्रयास किया। ट्रेड यूनियन केंद्रों में इसे 'सूचकांक जालसाज़ी' माना गया। इसके बाद इसमें कुछ संशोधन किये गये।

मगर बेचैनी ज़ारी रही। 1977 में रथ समिति गठित की गयी। एटक ने सूचकांक को ठीक करने और किसी भी जालसाज़ी को ख़त्म करने के लिए आधार वर्ष में पारिवारिक व्यय की वास्तविक गणना, 'वज़न' और 'टोकरी' की सही-सही गणना के लिए नमूने का आकार और वास्तविक खुदरा बाज़ार क़ीमतों का संग्रहण, आदि जैसे तत्वों को पहचाना। समिति ने इन चीज़ों पर ध्यान दिया।

बहरहाल, रिपोर्ट धूल चाट रही है और 'जालसाज़ी' ज़ारी है। इसके बावजूद उपभोक्ता मूल्य सूचकांक इस दौरान ज़ारी क़ीमतों में होने वाली असाधारण वृद्धि को उद्घाटित करता है।

क्योंकि क़ीमतों में गिरावट की कोई आशा नहीं है, अतः ट्रेड यूनियनें नये और अधिक वास्तविक वेतनमानों के लिए प्रयास कर रही हैं, जिनमें महँगाई भत्ते का एक बड़ा हिस्सा मूल वेतन के साथ मिला दिया गया हो जिससे वार्षिक वेतन वृद्धि ज़्यादा आकर्षक हो जाए।

टिप्पणी :

1. ट्रेड यूनियन कार्य के लिए श्रम संबंधी समंकों का बहुत महत्व है। ये श्रम ब्यूरो द्वारा प्रकाशित इंडियन लेबर जनरल, इंडियन लेबर स्टेटिस्टिक्स, इंडियन लेबर इयर बुक, बुक ऑफ़ लेबर स्टेटिस्टिक्स, ट्रेड यूनियन रिकॉर्ड और अन्य बहुत से स्रोतों में उपलब्ध हैं, जैसे उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण। इस काम के दौरान नवीन सांख्यिकीय समंकों पर भी ध्यान देना होगा।

जरूर पढ़ें :

1. भारत में मजदूरी : मणिबेन कर संस्थान
2. ट्रेड यूनियनवादियों के लिए अर्थशास्त्र : एम० अच्युतन
3. हाल के मजदूरी समझौते : एटक प्रकाशन
4. ताज़ा मजदूरी समझौते : एटक प्रकाशन

पाठ : 14

मज़दूरी संघर्ष के निष्कर्ष एवं जारी बहस

स्वातंत्र्योत्तर काल में, विशेषकर पिछले दशक में, मज़दूरी के सवाल पर मज़दूर वर्ग ने कुछ मिलाकर कुछ सफलताएँ हासिल की हैं। ये नीचे दी गयी हैं :

मज़दूरी संबंधी कुछ मानदंड और सिद्धांत विकसित किये गये हैं। विशाल क्षेत्रों में कितनी ही कम मज़दूरी क्यों न प्रचलित हो, सैद्धांतिक रूप से मज़दूर वर्ग अकाल या भूख से मरने की स्थिति के मज़दूरी के मानदंडों को पीछे छोड़ चुका है। 'आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम मज़दूरी', जीवन निर्वाह मज़दूरी, क़ीमत वृद्धि के विरुद्ध निष्प्रभावन, जो वास्तविक मज़दूरी में गिरावट पैदा करता है, बोनस, अतिरिक्त लाभ अब सुस्थापित तथ्य हैं;

कुछ संगठित क्षेत्रों और उच्च-संपन्न इलाक़ों में, मज़दूर उन्हें व्यवहार में उतारने और इस तरह अपनी वास्तविक आय में वृद्धि करने में सफल हुए हैं;

बड़े उद्योगों में, मज़दूरी के मानकीकरण का एक माप भी उपलब्ध कर लिया गया है; मध्यवर्गीय कर्मचारी, सरकारी कर्मचारी, सेवा उद्योगों के कर्मचारी विशाल स्तर पर मज़दूरी संघर्षों में शामिल हुए हैं और इसे गुणात्मक रूप से बढ़ावा मिला है।

और अंत में, अनेक क्षेत्रों में मज़दूरी बोर्डों, न्यायादेशों आदि की अपेक्षा मज़दूरी निर्धारण की एक विधि के रूप में द्विपक्षीय वार्ता पद्धति ने महत्वपूर्ण स्थान बनाया है।

बहरहाल, ट्रेड यूनियन आंदोलन की आज की समस्याओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि मज़दूरी संघर्ष के परिणामों का गहराई से अध्ययन किया जाए।

1939 से 1950 के बीच, वास्तविक मज़दूरी प्रवृत्तियों का सामान्य चित्र संघर्ष का बनता रहा है जिससे कि युद्धपूर्व की स्थिति को कोई गंभीर क्षति न पहुँचे। 1951 तक वास्तविक आय सूचकांक 92.2 (1939 = 100) पर स्थिर बना रहा। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा, "··· ऐसा प्रतीत होता है कि

1947 से 1955 के बीच की अवधि में हुई बढ़ोतरी के बाद से (इस प्रक्रिया में, 1952 में 1939 के मज़दूरी स्तर तक पहुँचकर और उसके बाद इसमें सुधार प्रदर्शित करते हुए) वास्तविक मज़दूरी निरंतर घटती रही है। 1947 से 1955 के मध्य जीवन निर्वाह लागतों में कमी के कारण वास्तविक मज़दूरी वृद्धि का एक भाग आकस्मिक था···" परवर्ती काल के बारे में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने माना,··· "कुछ मिलाकर, 1952 से 1965 के बीच जबकि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में सुधार हुआ है, मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी, कुछ अपवादों को छोड़कर, के बारे में ज़्यादा-से-ज़्यादा यही कहा जा सकता है कि वह गिरी नहीं है···" जैसाकि राष्ट्रीय श्रम आयोग ने नोट किया, इस अवधि में प्रति मज़दूर उत्पादन लगभग 63 प्रतिशत तक बढ़ चुका था।

तालिका : 1

सार्वजनिक उद्यमों के विभिन्न उद्योग समूहों की मूल्य संवृद्धि के रूप में उत्पादकता

क्रम संख्या	उद्योग समूह	मूल्य संवृद्धि (करोड़ रुपयों में)		प्रतिशत वृद्धि	लगायी गयी पूँजी में मूल्य संवृद्धि का प्रतिशत	
		1984-85	1983-84		1984-85	1983-84
1.	इस्पात	1,119.07	740.71	51.08	30.21	24.65
2.	खनिज एवं धातु	496.32	392.28	26.52	26.42	24.26
3.	कोयला	2,415.11	1,714.24	40.89	84.33	67.16
4.	ऊर्जा	135.85	110.53	22.91	6.79	9.27
5.	पेट्रोलियम	4,610.18	3,649.45	16.73	72.50	78.14
6.	रसायन, उर्वरक व औषधियाँ	999.76	852.48	17.28	37.53	37.54
7.	भारी इंजीनियरी	912.25	805.84	13.20	70.78	65.12
8.	मध्यम एवं हल्के इंजीनियरी	673.11	582.59	15.54	53.85	55.38
9.	यातायात साधन	742.05	564.23	31.52	52.89	46.86
10.	उपभोक्ता वस्तुएँ	116.00	82.20	41.12	330.45	66.56
11.	कृषि-आधारित उत्पाद	39.61	35.76	10.77	98.80	101.65
12.	कपड़ा	233.81	217.41	7.54	41.55	44.22

उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण ने पाया कि 1973-74 से 1977-78 की अवधि में 195 निर्माण उपसमूहों में से केवल 14 उपसमूहों में ही वास्तविक मज़दूरी बढ़ी थी। अगर कुल मिलाकर इन उद्योगों में नियुक्त सभी मज़दूरों की औसत आय को दृष्टि में रखा जाए तो हम पाते हैं कि इस अवधि में वास्तविक आय में प्रतिशत वृद्धि वास्तव में 3 प्रतिशत की ऋणात्मक प्रवृत्ति दर्शाती है।

पृष्ठ संख्या 102 पर तालिका-1 में हम कुछ निदर्शी समंक दे रहे हैं, मगर नवीनतम स्रोतों से प्राप्त नये समंकों को सदैव उद्धृत किया जा सकता है :

तालिका : 2

उत्पादन मूल्य के प्रतिशत के रूप में श्रम लागत

उद्योग	1980-81	1981-82	1982-83	1983-84
चाय	—	36.9	35.5	25.2
चीनी	9.3	8.7	7.9	8.7
तम्बाकू	16.4	17.3	16.4	16.7
सूती कपड़ा	19.2	16.3	15.1	15.9
सिल्क व रेयॉन	13.5	15.1	15.8	14.1
एलुमीनियम	9.6	9.2	9.1	11.0
इंजीनियरी	12.8	12.4	13.4	14.2
रसायन	9.0	9.5	10.0	10.3
सीमेंट	15.4	14.6	12.2	13.0
रबड़ एवं रबड़ उत्पाद	9.5	8.1	7.7	8.6
काग़ज़ व काग़ज़ी उत्पाद	14.5	13.0	13.1	12.8
विद्युत उत्पादन	7.9	4.7	5.5	5.3
व्यापार	—	4.9	5.5	6.0
जहाज़रानी	10.5	11.2	12.1	13.9
कुल (अन्य समेत)	12.8	12.5	12.7	13.2

नोट : दि इकोनॉमिक टाइम्स (3 जुलाई, 1985) का अध्ययन निजी क्षेत्र में बड़ी पब्लिक लिमिटेड कंपनियों की लागत संरचना पर आधारित है। प्रसंगवश, श्रम लागत में न सिर्फ़ मज़दूरी, बल्कि मैनेजरों का वेतन, विशेषाधिकार, आदि भी सम्मिलित हैं।

पूंजीपतियों के प्रवक्ता मज़दूर वर्ग पर यह आरोप लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि जबकि इसकी मज़दूरी-लागतों में वृद्धि हो रही है, इसकी उत्पादकता नहीं बढ़ पा रही है और इस तरह पूंजी की बचतों और संग्रहण की हानि हो रही है।

तथ्यों ने इसे ग़लत साबित कर दिया है जो यह दिखाते हैं कि मज़दूरों की श्रमशक्ति द्वारा उत्पादित निर्माण द्वारा मूल्य संवृद्धि बढ़ रही है जबकि कुल निर्माण मूल्य संवृद्धि में मज़दूरों की मज़दूरी का हिस्सा घट रहा है। पूंजी के हाथों मज़दूर के शोषण की दर निरंतर बढ़ रही है।

अपनी रिपोर्ट में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने स्वयं ही यह निष्कर्ष निकाला :

"स्वतंत्रता के बाद (1947 के बाद से) औद्योगिक मज़दूरों की मौद्रिक मज़दूरी में वृद्धि न तो वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि के साथ संबद्ध रही है, न ही वास्तविक मज़दूरी वृद्धियाँ उत्पादकता में किसी भी सुधार के अनुरूप रही हैं। साथ ही निर्माण की कुल लागतों के एक समानुपात के रूप में मज़दूरी लागतों में कमी हुई है और यही बात निर्माण द्वारा मूल्य संवृद्धि में मज़दूरों के हिस्से के संदर्भ में भी सच है।"

तालिका : 3

सार्वजनिक क्षेत्र में कुछ वस्तु समूहों की उत्पादन लागत में श्रम का भाग

क्रम संख्या	उद्यम समूह	श्रम का भाग उत्पादन लागत का प्रतिशत
1.	इस्पात	14.77
2.	खनिज एवं धातु	19.77
3.	कोयला	47.50
4.	ऊर्जा	5.61
5.	पेट्रोलियम	1.18
6.	रसायन व औषधियाँ	7.00
7.	भारी इंजीनियरी	18.16
8.	मध्यम व हल्के इंजीनियरी	24.32
9.	यातायात साधन	15.71
10.	उपभोक्ता वस्तुएँ	12.76
11.	कृषि-आधारित उद्यम	27.67
12.	कपड़ा	28.7

यहाँ तक कि बैंकिंग उद्योग में भी, जहाँ एक उच्च-शक्ति अभियान चलाया जा रहा है और स्टाफ़ की संख्या ग़ैर-अनुपातिक रूप से अधिक है व कर्मचारी 'उच्च वेतन द्वीप' माने जाते हैं, कुल वर्तमान परिचालन व्ययों में व्यवस्थागत व्ययों का अंश निरंतर 1970 में 39.5% से 1981 में 22% तक गिर गया। (देखें एस० चक्रवर्ती समिति की रिपोर्ट)

मज़दूरी के सवाल पर पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा सांख्यिकीय तोड़-मरोड़ के आधार पर रखे गये तर्कों का एक नमूना प्रो० बी० के० मदान ने प्रस्तुत किया है, जिन्होंने राष्ट्रीय श्रम आयोग के निष्कर्षों का इस आधार पर विरोध किया कि उसने कम वेतन प्राप्त मज़दूरों को वास्तविक मज़दूरी को कुछ अधिक ही महत्व दिया है। भारतीय निर्माण उद्योगों में काम करने वाले सभी मज़दूरों से संबंधित समंकों के विश्लेषण से प्रो० मदान ने यह निष्कर्ष निकाला कि 1951 के बाद से पिछले दो दशकों में औद्योगिक मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में 35.3 प्रतिशत वृद्धि हुई है। उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि भविष्य में भी यही प्रवृत्ति जारी रहेगी।

हिंद मज़दूर सभा के महासचिव श्री बागाराम तुलपुले ने यह संकेत कर कारगर ढंग से इसका खंडन किया कि भारत के संदर्भ में वार्षिक औसत मज़दूरी एक सार्थक विचार नहीं है। दूसरे, वास्तविक मज़दूरी की डॉ० मदान की तालिका का आधारवर्ष सिर्फ़ 1951 से बदलकर 1952 कर देने से वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि 25.1 प्रतिशत ठहरती है। वैकल्पिक रूप में, तालिकाओं के अंतिम वर्ष के रूप में 1970 के बजाय 1969 को मानने से पुनः वास्तविक मज़दूरी में 19 वर्षों के दौरान 28.3 प्रतिशत वृद्धि दिखायी पड़ती है।

बागाराम तुलपुले द्वारा निकाले गये निष्कर्षों का सैद्धांतिक और व्यावहारिक महत्व है। अतः उनके कथन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। किसी परिवर्त्य मन-माने उतार-चढ़ावों के कारण होने वाली उपरोक्त क़िस्म की भिन्नताओं से बचने के लिए वह एक बेहतर संदर्भ-बिंदु के रूप में तीन-वर्षीय चक्रीय औसत की वकालत करते हैं। कुछ ख़ास वर्षों में आकस्मिक परिवर्तनों के फलस्वरूप पैदा होने वाले विकृतीकरण को कम करने हेतु तीन-वर्षीय औसत को लेने से 1951-53 के लिए वास्तविक आय का औसत सूचकांक 105 और 1973-75 के लिए 131 बैठता है, जो 24.8 प्रतिशत की वृद्धि को प्रदर्शित करता है। इसी आधार पर प्रति व्यक्ति आय का सूचकांक 23 वर्षों में लगभग 30.2 प्रतिशत वृद्धि दर्शाता है।

दूसरी ओर, 1951 की क़ीमतों पर प्रति व्यक्ति मूल्य संवृद्धि का औसत सूचकांक 1951 से 1953 तक के तीन वर्षों की अवधि के लिए 107.7 था व 1973-75 की अवधि के लिए 224.6 था जो 23 वर्षों की अवधि में 108.5 प्रतिशत की वृद्धि दर्शाता था।

उपलब्ध आँकड़ों के उपरोक्त विश्लेषण द्वारा, तुलपुले निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं :

(i) 1975 में मज़दूरों की औसत मज़दूरी भी परिकलित गणनाओं के लिए स्वीकृत कम किये हुए पोषण मानकों के अनुसार भी न्यूनतम आवश्यकता पर आधारित स्तर तक नहीं पहुँच पायी थी।

(ii) मज़दूरों की औसत वास्तविक मज़दूरी 1951 के बाद से बढ़-घट रही है और 1975 तक वृद्धि की समग्र औसत दर मुश्किल से 1 प्रतिशत प्रति वर्ष से कुछ अधिक थी। यह वृद्धि दर इसी समय में स्थिर क़ीमतों पर राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय की दर की तुलना में निश्चित रूप से कम थी।

(iii) 1975 में मज़दूर परिवारों की औसत प्रति व्यक्ति आय इस दौरान राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा थोड़ी ही ज़्यादा थी, इस तथ्य के बावजूद कि निर्माण क्षेत्र में आय पूरे समय के काम के बदले है और यह कि उच्च प्रौद्योगिक स्तर और संगठन की वजह से श्रम की उत्पादकता अपेक्षाकृत अधिक है।

(iv) स्थिर क़ीमतों पर प्रति मज़दूर निर्माण के द्वारा मूल्य संवृद्धि के रूप में श्रम उत्पादकता 1951 से 1975 के बीच की अवधि में 3 प्रतिशत प्रति वर्ष से ज़्यादा औसत चक्रवृद्धि की दर से बढ़ी है। इसी दौरान मज़दूरों की वास्तविक आमदनी मात्र लगभग 1 प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ी।

(v) निर्माण द्वारा जोड़े गये मूल्य के एक समानुपात के रूप में मज़दूरों की आमदनी 1951-53 में 50 प्रतिशत से कुछ कम से घटकर 1973-75 में 32.5 प्रतिशत के लगभग रह गयी।

"ये तथ्य क्या इंगित करते हैं? क्या वे यह दिखाते हैं कि मज़दूर ख़ुद अपनी क़ीमतें तय करने वाला और असंगठित क्षेत्र का शोषण करने वाला इजारेदार है? क्या वे यह दिखाते हैं कि मज़दूरों ने राष्ट्रीय आय, यहाँ तक कि औद्योगिक उत्पाद का ग़ैर-अनुपातिक रूप से बड़ा हिस्सा ख़ुद के लिए हड़प लिया है। क्या वे अनेक बार दोहराए गये इस दावे की पुष्टि करते हैं कि उत्पादन लागतों को बढ़ाने में भूतकाल में हुई मज़दूरी वृद्धियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है? क्या वे यह सुझाव देते हैं कि मज़दूरों को प्राप्त होने वाली आमदनियों और दूसरे लाभों की राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय के साथ कोई संगति नहीं रही है और यह कि कुल मिलाकर इन्होंने देश की बेहिसाब ग़रीबी बढ़ाने में मदद की है? क्या वे यह इंगित करते हैं कि मज़दूरों की माँगों ने देश की अर्थव्यवस्था के विकास को धीमा कर दिया है? इन सभी सवालों का एक ही सुस्पष्ट जवाब है 'नहीं'।"

इंडियन लेबर जरनल (फ़रवरी 1982) में यह स्वीकार किया गया है कि

जबकि 1970-71 से 1979-80 के दशक में राष्ट्रीय आय 1970-71 की क़ीमतों पर 30.4 प्रतिशत के हिसाब से बढ़ी, इसी दौरान वास्तविक मज़दूरी में सिर्फ़ 1.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। एक अन्य सरकारी सूत्र के अनुसार, "1975 तक 2 वर्ष की अवधि में मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में 30 प्रतिशत से अधिक गिरावट आयी है।" संसद में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में सरकार ने स्वीकार किया। कि, "1980 तक 3 वर्षों के दौरान देश में बड़े औद्योगिक घरानों की परिसंपत्तियों में 45 प्रतिशत से ज़्यादा वृद्धि हुई है"; जबकि "जनवरी 1973 से सितम्बर 1981 की अवधि में रुपये के मूल्य में गिरावट के कारण सरकारी कर्मचारियों की वास्तविक मज़दूरी में 7 प्रतिशत से 46 प्रतिशत तक, जोकि वेतनमानों पर निर्भर करती है, गिरावट आयी है।"

इसके बावजूद, सरकार और दूसरे पूंजीवादी प्रवक्ताओं ने उन छोटे-छोटे लाभों के ख़िलाफ़ प्रत्याक्रमण छेड़ दिया है जिन्हें भारत के मेहनतकशों के एक हिस्से द्वारा हासिल कर लिया गया है। इस उद्देश्य के लिए सरकारी तौर पर चक्रवर्ती समिति (1973-74) और भूतलिंगम पैनल का गठन किया गया। इन दो समितियों द्वारा छेड़े गये विचारधारात्मक हमले का केंद्र, हर मौक़े पर सरकार द्वारा जिसे बार-बार दोहराया जाता रहा, ग़रीबी की सीमारेखा का सिद्धांत और 'उच्च-वेतन द्वीप' पर आक्रमण करना रहा। दोनों विचार एक-दूसरे के पूरक हैं और इस तर्क को कि मज़दूरी संरचना को राष्ट्रीय ग़रीबी सीमारेखा (जिसके नीचे हमारी आबादी का 40 से 50 प्रतिशत से भी अधिक भाग रहता है) से जोड़ा जाना चाहिए, निरस्त कर देते हैं। संगठित मज़दूरों द्वारा मज़दूरी वृद्धि की कोई भी माँग अधिक उपभोक्ता वस्तुओं की माँग, क़ीमत वृद्धि और मुद्रा-प्रसार को प्रेरित करेगी और ग़रीबी हटाने की सामान्य सामाजिक और राष्ट्रीय समस्या का समाधान करने के प्रयासों से संसाधनों को विमुख कर देगी। 'उच्च वेतन द्वीपों' पर संकुचित वर्गीय स्वार्थों को आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में अपनी रणनीतिक स्थिति का दुरुपयोग करने का आरोप लगाया गया है।

1980 में दिल्ली में हुई अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र ट्रेड यूनियन आयोग के अधिवेशन में बोलते हुए प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने वाक्पटुता के साथ पूछते हुए यह विचार दोहराया: "क्या रोज़गार निर्माण को प्राथमिकता नहीं मिलनी चाहिए? क्या नवीन श्रम प्रधान और रोज़गार पैदा करने वाली परियोजनाओं में निवेश के स्थान पर हमारे देश के उच्च-वेतन प्राप्त लोगों के वेतनमान बढ़ाने के लिए संसाधनों को निधारित किया जा सकता है?"

सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो के निर्देशों में उपरोक्त आधार पर वेतनमान लागू करने के लिए अपनायी जाने वाली रणनीतियों को उल्लिखित किया। निवेश के चुनाव, विकास के रास्ते, रोज़गार सृजन आदि के संबंध में आज 'आधुनिकी-

करण' के रूप में नये और अत्यावश्यक लक्ष्य के साथ भिन्न तर्क दिये जा रहे हैं। लेकिन मज़दूरों की मज़दूरी के संबंध में दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वास्तव में, यह और ज़्यादा मज़बूत हुआ है। इसके एक हिस्से के रूप में सामूहिक सौदेबाज़ी अथवा मज़दूरी संबंधी वार्ताओं के मुद्दे पर, जिनमें पहले ही काफ़ी विलम्ब हो गया है, पीछे हटने की कोशिश ज़ारी है।

इस प्रचार का मुख्य उद्देश्य मज़दूरी की वर्तमान विषमताओं को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना और स्वयं ग़रीब कहलाते हुए आर्थिक क्रियाकलाप के सभी क्षेत्रों में मज़दूरों की ग़रीबी को ज्यों-का-त्यों बनाये रखना है। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने यह कहते हुए इसका खंडन किया है कि "औद्योगिक एवं अन्य मज़दूरों (उदाहरण के लिए, खेतिहर मज़दूर) के बीच विषमता इस तथ्य के कारण संभव नहीं कि औद्योगिक मज़दूरों की आय ग़ैर-अनुपातिक रूप से अधिक है, बल्कि इसलिए कि अन्य मज़दूरों की आय ग़ैर-अनुपातिक रूप से कम है।"

यह सत्य है कि मज़दूरों की संगठित कार्रवाइयों में सफलताओं का संबंध आरंभिक रूप में अल्पसमूह से है। मगर यह अधिक मज़दूरी की माँग हेतु अन्य मज़दूरों के लिए उत्प्रेरक का कार्य करता है। असंगठित मज़दूर, खेतिहर मज़दूर अपने संगठित भाइयों का रास्ता अख़्तियार करेंगे और सफलताएँ हासिल करेंगे। वास्तव में, वे यह कर रहे हैं। अतः यह ग़रीबों के नाम पर मज़दूरी के उच्चतर स्तर को कम करने का प्रश्न नहीं है, बल्कि उच्चतर स्तर प्राप्त करने हेतु ग़रीबों की मज़दूरी में वृद्धि के लिए संघर्ष करने का प्रश्न है। यह एक सतत संघर्ष है। वेतन जाम करने की कोशिश करना वर्ग-संघर्ष को रोकने के बराबर है।

जहाँ तक निवेशों का ताल्लुक है, मज़दूरी वृद्धि अथवा वेतन जाम से उनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। वेतन जाम द्वारा लाभों में वृद्धि का स्वतः अर्थ अधिक निवेश और इस प्रकार अधिक रोज़गार के अवसरों का निर्माण नहीं है। वास्तव में, अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कुछ सीमा तक निम्न मज़दूरी दरें निम्न क्रय-शक्ति व एक संकुचित बाज़ार को जन्म देती हैं और फलस्वरूप नये निवेशों को निरुत्साहित करती हैं। बेरोज़गारी पूँजीवाद की दुष्ट सहचरी है और मज़दूरी वृद्धि को रोककर उससे नहीं लड़ा जा सकता।

क्या मज़दूरी में वृद्धि से क़ीमतें बढ़ती हैं? पूँजीवादी समाज में, क़ीमतों का मज़दूरी से कोई प्रत्यक्ष संबंध है। मार्क्स ने इसे निष्कर्षतः पहले ही प्रदर्शित कर दियाथा। आज हम 'इज़ारेदार क़ीमतों', 'निर्देशित क़ीमतों', 'काला बाज़ार क़ीमतों', 'नियंत्रित क़ीमतों', 'सहायता प्रदत्त क़ीमतों' आदि के बारे में जानते हैं। भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नयी दिल्ली ने एक अनुसंधान कराया है और यह दिखाया है कि जब मज़दूरी का अंश बढ़ता है, तो निर्मित वस्तुओं की क़ीमतें आवश्यक रूप से नहीं बढ़तीं। दूसरी ओर, मज़दूरी के अंश में कटौती आम

उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में कमी पैदा करती है, अप्रयुक्त क्षमता निर्मित करती है, समूची अर्थव्यवस्थाओं को नुक़सान पहुँचाती है और इस तरह क़ीमतों में वृद्धि को प्रेरित करती है। अत: मज़दूर भारतीय संदर्भ में लागत-दबाव के लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं।

उत्पादन और उत्पादकता से संबंधित मज़दूरी की क्या स्थिति है? उत्पादन और उत्पादकता अनेक कारकों पर निर्भर करती है। पूँजीवादी समाज में मज़दूर वर्ग का इन पर कोई नियंत्रण नहीं होता। इसके विपरीत आश्वासनों के बावजूद, पूँजीवाद के अंतर्गत उत्पादन की उपलब्धियों को समान रूप से नहीं बाँटा जा सकता। इसके अलावा अभी हम आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम मज़दूरी, जोकि हमारा तात्कालिक लक्ष्य है, से काफ़ी दूर है। अत: उत्पादकता पर आधारित मज़दूरी हमारी परिस्थितियों में एक हानिकारक और अस्वीकार्य सिद्धांत है।

राष्ट्रीय मज़दूरी नीति के बारे में क्या स्थिति है? पूँजीवाद के अंतर्गत, जहाँ मज़दूरी में अराजकता पायी जाती है, इस प्रकार का सिद्धांत बेहद अकादमिक होता है। सबसे बुरी बात यह है कि इसका अर्थ मज़दूरी को कम कर 'ग़रीबी की सीमारेखा' के समकक्ष लाना है।

अत: मज़दूरी के सवाल पर ट्रेड यूनियन संघर्ष के उद्देश्य हैं:

- मज़दूरी के बारे में सभी पूँजीवादी सिद्धांतों और वेतन जाम के लिए, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सभी प्रयासों के ख़िलाफ़ दृढ़ संघर्ष चलाना।
- मज़दूरी के आरोही संशोधन और पूर्ण निष्प्रभावन के साथ महँगाई भत्ते के लिए संघर्ष करना जिससे मज़दूरी में क्षति न हो सके।
- तात्कालिक लक्ष्य के रूप में 'आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम मज़दूरी' प्राप्त करना।
- अपनी न्यूनतम मज़दूरी को बढ़वाने और उसके पक्के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए असंगठित क्षेत्रों के मज़दूरों और देहाती मज़दूरों के संघर्षों को हरसंभव सहायता देना।
- समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धांत को लागू करवाना एवं स्त्री व बाल मज़दूरों के शोषण के विरुद्ध संघर्ष करना।
- बँधुआ मज़दूर और ठेका मज़दूरों की व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करना और मज़दूरी व अन्य श्रम क़ानूनों के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना।
- मज़दूरी निर्धारण की एक विधि के रूप में द्विपक्षीय वार्ताओं की व्यवस्था पर बल देना व उनका विस्तार करना।

- मज़दूरी में वृद्धि के संघर्ष को राष्ट्रीय-औद्योगिक स्तर तक, राष्ट्रीय नीतियों के लिए संघर्ष के स्तर तक पहुँचाना।

ज़रूर पढ़ें :

1. वह सब जोकि पिछले पाठ में दिया हुआ है।
2. मज़दूरी नीति पर पर्चा : एटक का विशेष अधिवेशन, इंदौर।

पाठ : 15

बोनस एवं सामाजिक सुरक्षा

जैसाकि मज़दूरी के बारे में रहा है, बोनस के संबंध में उपलब्धियाँ भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन द्वारा चलाये गये दीर्घकालीन और दृढ़ संघर्षों का परिणाम है।

जबकि इस शताब्दी के आरंभिक वर्षों में इन केंद्रों में 'काली मौत' का साया घूमना शुरू हुआ, काम पर बने रहने और अपने जीवन को खतरे में डालने के लिए एक प्रोत्साहन के रूप में अहमदाबाद और बम्बई के कपड़ा मज़दूरों को दी जाने वाली अल्प राशि 'प्लेग बोनस' से आधुनिक अवधारणा यानी बोनस भुगतान के संबंध में क़ानून और व्यवहार तक मज़दूरों ने लंबी दूरी तय कर ली है।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान, कपड़ा मज़दूरों ने क़ीमत वृद्धि के विरुद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में 'युद्ध बोनस' पाने का जुगाड़ कर लिया था। यह द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में भी जारी रहा। असल में यह एक अनुदान भुगतान था, यद्यपि मालिकों की 'इच्छा और कृपा' काफ़ी हद तक मज़दूरों की भुगतान के लिए उन्हें बाध्य करने की क्षमता पर निर्भर करती थी।

बोनस के लिए वार्षिक संघर्ष इस बिन्दु के चारों ओर केंद्रित रहा कि मज़दूर निर्वाह-मज़दूरी से पर्याप्त दूर हैं, कि बोनस को एक 'स्थगित वेतन' माना जाये जिसका वार्षिक आधार पर भुगतान हो, कि यह पूँजीपतियों द्वारा उत्पन्न और हड़प लिये गये अतिरिक्त मूल्य के अंश में एक अधिकारपूर्ण दावा था और यह कि न तो यह प्रबंधकों की शुभाकांक्षाओं पर, न ही अर्जित किये गये लाभ की आकस्मिकता पर निर्भर था, जिसके बारे में किसी भी स्थिति में न तो मज़दूरों की कुछ चलती ही थी, न ही उन्हें कोई सच्ची जानकारी थी।

आज़ादी के बाद के वर्षों में श्रम अपील ट्रिब्यूनल और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने आंशिक रूप से मज़दूरों के दावे को समर्थन दिया। अतिप्रवण होने के बावजूद, जैसाकि पूँजीवादी विचारधारा में अदालतें और कचहरियाँ हुआ करती हैं, वे सभी औद्योगिक और व्यापारिक गतिविधियों के प्रधान लक्ष्य के रूप में 'लाभ' के आकर्षक चक्र को तोड़कर बाहर नहीं निकल पाये। बोनस निर्धारित करने

के लिए श्रम अपील ट्रिब्यूनल के फ़ार्मूले ने एक आधार प्रस्तुत किया।

मज़दूरों के अथक संघर्ष ने 1964 में सरकार को बोनस आयोग गठित करने के लिए बाध्य किया। इसने घोषित किया कि हर हालत में, मुनाफ़े अथवा घाटे का ध्यान रखे बिना कुल मज़दूरी (मूल + महँगाई भत्ता) का कम-से-कम 4 प्रतिशत न्यूनतम बोनस के रूप में दिया जाना चाहिए। इसके ऊपर कोई भी भुगतान अन्य दूसरे भुगतानों के बाद बचे अवशेष लाभ का ही अंश होगा। अतः न्यूनतम बोनस वर्ष के अंत में चुकायी गयी मज़दूरी का हिस्सा और इस तरह एक गारंटीशुदा अधिकार बन गया, जबकि इससे ऊपर दिया गया कुछ भी, लाभ के ऊपर फुटकर और इस प्रकार एक प्रकार से लाभ में हिस्सा बँटाना था।

बोनस भुगतान अधिनियम, 1965 तुरंत बाद संविधि पुस्तक में शामिल कर लिया गया, मज़दूर परिवार के ग़ैर-आवर्ती व्ययों की पूर्ति के लिए बोनस एक संवैधानिक अधिकार यानी ग़ैर-आवर्ती मज़दूरी के रूप में विकसित हुआ। बहरहाल, यह मज़दूरों के कुछ निश्चित हिस्सों तक सीमित था और अनेक प्रतिबंधों द्वारा बँधा हुआ था जिससे पूँजीपतियों को पूर्व प्रभारों के नाम पर लाभ कमाने, 'उपलब्ध अधिशेष' को कम करने और मज़दूरों को उनका वाज़िब हिस्सा देने से इंकार करने का अधिकार मिल गया। सरकार ने स्वयं अपने कर्मचारियों, अन्य विभागीय संस्थानों, स्थानीय संस्थाओं और नगर पालिका सेवाओं के कर्मचारियों को इस अधिनियम और बोनस के भुगतान की सीमा से बाहर रखा।

पिछले दो दशकों में मज़दूरों द्वारा लड़े गये भयंकर संघर्षों को नियोक्ताओं द्वारा पैदा किये गये अवरोधों को एक के बाद एक हटाने में सफलताएँ मिली हैं। 4 प्रतिशत न्यूनतम को बढ़ाकर 8.33 प्रतिशत कर दिया गया। ग़ैर-प्रतियोगी सार्वजनिक क्षेत्र संस्थानों के कर्मचारी, विभागीय संस्थानों के कर्मचारी, केंद्र व राज्य सरकारों के मंत्रिमंडलीय और सचिवालयीय स्टाफ़ व नगर पालिका सेवाओं के कर्मचारी आदि भी अब बोनस के लिए अधिकृत हो गये हैं। 750 रुपये प्रति माह या इससे अधिक 1600 रुपये तक वेतन पाने वालों को मात्र 750 रुपये प्रति माह वेतन के आधार पर बोनस की आरंभिक सीमा अब कुछ कारणों से संशोधित कर दी गयी है।

बहरहाल, यह सोचना केवल आत्मतुष्टि ही होगी कि सरकार ने स्वयं ही बोनस के भुगतान को मज़दूरों के अधिकार के रूप में मान्यता दे दी है। 'आपात-काल' के दिनों में इसे छीनने का प्रयास किया गया था। हाल ही में, सरकार ने पहले तो अपने कर्मचारियों के बड़े हिस्से के लिए छोटी-मोटी रियायतों की घोषणा करके और फिर इसका आधा भाग भविष्यनिधि में जमा करने की बात करके इसमें पैबंद लगाने का प्रयास किया है। अतः सतत संघर्ष बना हुआ है।

इस मुद्दे पर संघर्ष निम्न माँगों पर आधारित है :

- जहाँ कहीं भी नियोक्ता-कर्मचारियों के बीच अंतर्संबंध मौजूद हैं, बोनस-अधिनियम के लाभ और बोनस का भुगतान सभी क्षेत्रों में दिये जाने चाहिए। वार्षिक मज़दूरी भुगतान के इस हिस्से को देने से किसी भी कर्मचारी को इंकार नहीं किया जाना चाहिए।
- न्यूनतम सीमा को अतिरिक्त लाभों समेत कुल आमदनी के 10 प्रतिशत तक बढ़ा दिया जाना चाहिए।
- लाभ की गणना और 'उपलब्ध अधिशेष' मालूम करने के लिए प्रयुक्त फ़ार्मूले को संशोधित किया जाना चाहिए।
- 20 प्रतिशत की सीमा उठा ली जानी चाहिए।

सामाजिक सुरक्षा

मज़दूरी-निर्धारण के आधार में मज़दूरों का सामाजिक सुरक्षा का अधिकार सवेतन छुट्टियाँ और अन्य अतिरिक्त लाभ, व्यावसायिक प्रशिक्षण और पेशेवर तरक़्क़ी की संभावनाएँ निहित हैं। सामाजिक सुरक्षा लाभ मज़दूरों के जीवन स्तर का एक आवश्यक तत्व बन चुके हैं।

मज़दूर द्वारा श्रम-शक्ति का विक्रय एकपक्षीय सौदा नहीं है। पूँजीवादी पुनरुत्पादन की माँग है कि श्रम-शक्ति की आपूर्ति लगातार बनी रहे। पूँजीवादी व्यवस्था की निरंतरता श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन एवं बीमारी, मातृत्व, अवैधता, रोज़गार के नुक़सान, व्यवसाय की आकस्मिक हानि, वृद्धावस्था और मौत के उतार-चढ़ावों के बीच स्वास्थ्य और कल्याण के एक निश्चित स्तर पर मज़दूर और उसके परिवार को बनाये रखने की अनिवार्यता पर निर्भर है। यह सामाजिक सहायता और सामाजिक बीमा, दोनों के योग की माँग करती है।

इसके अतिरिक्त, मज़दूर वर्ग के संघर्षों, मज़दूर के जीने के अधिकार, मानवीय गरिमा और बेहतर सामाजिक अस्तित्व के दावे ने 'सामाजिक न्याय' की मान्यता को जन्म दिया है। आज का समाज अब और ज़्यादा इस मानवोचित अवधारणा की उपेक्षा नहीं कर सकता और मज़दूर वर्ग आंदोलन इतना ताक़तवर हो चुका है कि वह इसे ऐसा करने की इजाज़त नहीं दे सकता। समय के साथ-साथ सामाजिक न्याय के आधुनिक सिद्धांत और अधिक विकसित हो रहे हैं।

आज़ादी से पूर्व, भारतीय मज़दूरों ने दो आकस्मिकताओं अर्थात् दुर्घटना एवं मातृत्व के विरुद्ध सुरक्षा हासिल कर ली थी। इन्हें मज़दूर क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 और दूसरे अन्य मातृत्व लाभ अधिनियमों के तहत प्रदान किया गया।

आज़ादी के बाद, सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में प्रचुर विकास हुआ है। उदाहरण के लिए उनमें सम्मिलित हैं :

- कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948
- कोयला खान भविष्यनिधि और बोनस योजना अधिनियम, 1948
- कर्मचारी भविष्यनिधि और परिवार पेंशन कोष अधिनियम, 1952
- ग्रेच्युटी भुगतान अधिनियम, 1972
- मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961
- औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में संशोधनों के द्वारा अर्जित ले-ऑफ़ व छँटनी क्षतिपूर्ति, निलंबन के दौरान निर्वाह भत्ता।

इनके अलावा, मज़दूरों के विशिष्ट तबक़ों पर लागू कुछ अनुभागीय सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ हैं।

क़ानूनी योजनाओं के अतिरिक्त, अनेक बेहतर संगठित श्रमिकों द्वारा अर्जित द्विपक्षीय समझौतों पर आधारित ग़ैर-क़ानूनी सामाजिक सुरक्षा लाभ हैं।

सामाजिक सुरक्षा के लिए क़ानूनी प्रावधान की बहुत-सी सीमाओं से ग्रस्त हैं : (i) सामाजिक सुरक्षा के बहुत से महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो अब तक पूरी तरह से अरक्षित हैं। उदाहरण के लिए, जैसे अभी तक बेरोज़गारी बीमा, वृद्धावस्था पेंशन आदि का कोई प्रावधान नहीं है सिवा उन जगहों के, जहाँ मज़दूरों ने इसे बंदोबस्त अथवा पुरस्कार के ज़रिये अर्जित किया है; (ii) ऐसे प्रावधान, जो आज मौजूद हैं, सभी उद्योगों या सभी मज़दूरों पर लागू नहीं होते। विकेंद्रित उद्योगों और असंगठित क्षेत्र में मज़दूर वास्तव में असुरक्षित है तथा कुछ उद्योगों में, जो सुरक्षित हैं, मज़दूरों के बहुत से तबक़े उनमें शामिल नहीं हैं; (iii) लाभ बहुत थोड़े हैं और पूर्णत: अपर्याप्त हैं; (iv) अनेक योजनाओं को लागू करने के लिए मज़दूरों को अपनी मज़दूरी के भरपूर हिस्से का योगदान देना होता है, नियोक्ता का अंश अपर्याप्त है और काफ़ी मात्रा में बकाया है, सरकार का हिस्सा नगण्य है और अभी तक निर्णायक नियंत्रण सरकार और नियोक्ताओं के हाथ में है; (v) योजनाओं का प्रशासन नौकरशाही और लेटलतीफ़ी से भरपूर है।

इस सवाल पर संघर्ष का उद्देश्य वृद्धावस्था, बेरोज़गारी आदि, जैसी आकस्मिकताओं से सुरक्षा प्रदान करने की गुंजाइश को बढ़ाना, सभी उद्योगों में मज़दूरों की सुरक्षा का विस्तार करना, मज़दूरों को प्राप्त लाभों में संशोधन करना, भविष्यनिधि के सिवा मज़दूरों से अन्य किसी योगदान का न होना, अफ़सरशाही विलंबों और परेशानियों से बचने के लिए ट्रेड यूनियनों की हिस्सेदारी के साथ प्रबंधन का लोकतंत्रीकरण और विकेंद्रीकरण है। संघर्ष, क़ानूनी और सामूहिक सौदेबाज़ी—दोनों ही क्षेत्रों में होता है।

बढ़ती हुई बेरोज़गारी के साथ वर्तमान परिस्थिति में, ज़्यादा-से-ज़्यादा बंद व छँटनी, बेरोज़गारी बीमे के लिए संघर्ष और छँटनी लाभों का बड़ा महत्व है।

आधुनिकीकरण औद्योगिक संकट एवं जीवन व स्वास्थ्य के लिए जोखिम

बढ़ाता है। मज़दूरों और सामान्य सामाजिक पर्यावरण—दोनों के हितों में एक सचेत ट्रेड यूनियन आंदोलन द्वारा बेहतर सामाजिक सुरक्षा उपायों व साथ-साथ प्रतिबंधात्मक उपायों के लिए संघर्ष किया जाना चाहिए।

विकसित पूँजीवादी देशों में, हथियारों की दौड़ और भारी सैनिक व्यय आज तक मज़दूर वर्ग द्वारा अर्जित सामाजिक सुरक्षा उपलब्धियों पर प्रत्यक्ष हमले को प्रेरित कर रहे हैं। अमेरिका और ब्रिटेन में हम देखते हैं कि किस तरह 'रेगनवादी अर्थशास्त्र' और 'थैचरवाद' के एक अंश के रूप में सामाजिक सुरक्षा लाभों में भयंकर कटौतियाँ की जा रही हैं।

हमारे देश में भी ट्रेड यूनियनों को इस तरह के विकास के विरुद्ध सजग रहना है।

ज़रूर पढ़ें :

1. बोनस एवं सामाजिक सुरक्षा पर पर्चा : इंदौर एटक का विशेष अधिवेशन दस्तावेज़।
2. राष्ट्रीय श्रम आयोग को एटक का ज्ञापन
3. स्वतंत्र भारत में श्रम : हिंद मज़दूर सभा प्रकाशन

पाठ : 16

औद्योगिक संबंध : ट्रेड यूनियन अधिकारों के लिए संघर्ष

ट्रेड यूनियन आंदोलन का केन्द्रीय मुद्दा मज़दूरों को स्वतंत्र रूप से संगठित होने, अपनी यूनियन बनाने और बिना किसी रोकटोक के इसकी कार्रवाई चलाने का अधिकार, जब भी वह ज़रूरी समझे, हड़ताल का आह्वान कर उत्पादन प्रक्रिया से हटने की ताक़त के बलबूते पर उसे नियोक्ताओं के साथ सामूहिक सौदेबाज़ी करने का अधिकार है।

इन तीन मौलिक और जैविक अधिकारों के संदर्भ में जो परिस्थिति उभरती है, जैसे :

- यूनियन बनाने और अपनी सामूहिक शक्ति व उनकी तरफ़ से सौदाकारी एजेंट के रूप में मान्यता दिलवाने का अधिकार
- सामूहिक सौदबाज़ी का अधिकार, एवं
- हड़ताल का अधिकार

वह ही देश में औद्योगिक संबंधों की आवोहवा तथा चरित्र का निर्धारण करती है।

राष्ट्रीय श्रम कमीशन को दिया गया एटक का ज्ञापन हमारे सैद्धांतिक आधार को निम्न रूप में रेखांकित करता है।

पूँजी के विरुद्ध मज़दूरों के संघर्ष, दैनंदिन सुरक्षा, मज़दूरी व कार्य की दशाओं में ट्रेड यूनियन ही उसकी सामूहिक शक्ति और ताक़त का संगठन है। हड़ताल या अपने श्रम को वापस ले लेना ही उसका एकमात्र संघर्ष का कारगर हथियार है।

और यूनियन तथा हड़ताल, इन दो चीज़ों के द्वारा वह नियोक्ता से सामूहिक सौदेबाज़ी का अधिकार अर्जित करता है। इनके द्वारा ही वह संगठित पूँजी की सामूहिक शक्ति के ख़िलाफ़ अपने वर्ग के व्यक्तिगत सदस्य की कमज़ोरी पर जीत हासिल करता है।

अतः, ट्रेड यूनियनों को मान्यता, सामूहिक सौदेबाज़ी का अधिकार और हड़ताल करने का अधिकार मज़दूर वर्ग के लिए औद्योगिक संबंधों के सर्वाधिक मूलभूत और जैविक सिद्धांत हैं।

1926 में भारतीय ट्रेड यूनियन अधिनियम के पारित होने से कुछ न्यूनतम परिस्थितियों के तहत किन्हीं भी सात मज़दूरों को ट्रेड यूनियन बनाने का अधिकार मिल गया। मगर 1928 और 1929 की हड़तालों की लहर के बाद और फिर 1937 व 1946 में संघर्ष के बाद पहले उपनिवेशी शासकों और बाद में कांग्रेसी सरकारों द्वारा आंदोलन और मज़दूरों के बढ़ते संगठनों का प्रतिरोध करने तथा समझौतों व निर्णयादेशों को थोपकर हड़ताली संघर्षों को तोड़ने के प्रयास किये। 7 नवम्बर, 1938 को एक आम हड़ताल द्वारा बम्बई के मज़दूरों ने 1937 के अधिनियम का विरोध किया, और पुलिस द्वारा गोली चलाये जाने के परिणामस्वरूप दो मज़दूर मारे गये।

आज़ादी के बाद सरकार ने इस दिशा में अपने प्रयास शुरू कर दिये, ट्रेड यूनियन आंदोलन को विभाजित कर दिया। ख़ुद अपनी यूनियनें स्थापित कीं और बम्बई औद्योगिक संबंध अधिनियम (गुजरात और म० प्र० में भी लागू) के अंतर्गत उन्हें तुरन्त मान्यता प्रदान कर दी।

1957 में भारतीय श्रम अधिवेशन के द्विपक्षीय संगठन ने अनुशासन आचार-संहिता पेश की जिसे एटक ने इसकी कुछ ज़बर्दस्त खामियों के बावजूद (मुख्यतः सरकार द्वारा प्रवर्तित यूनियनों के पक्ष में अधिक वज़न होने से सदस्यता प्रमाणित करने के बारे में) सिर्फ़ इसीलिए स्वीकार कर लिया क्योंकि पहली बार यूनियनों की मान्यता के लिए रास्ता खुला था।

मज़दूर आंदोलन के द्वारा सामूहिक सौदेबाज़ी का अधिकार लागू हुआ जिसने सरकार और नियोक्ताओं को अदालतों व न्यायादेश संगठनों को त्याग देने एवं द्विपक्षीय वार्ताओं और वेतन समझौतों हेतु बातचीत के लिए विवश कर दिया।

सभी तरह के प्रतिबंधों और दमन के उपायों के बावजूद औद्योगिक कर्मचारियों के अलावा सरकारी और अर्द्ध-सरकारी कर्मचारियों द्वारा वास्तविक जीवन में हड़ताल के अधिकार का प्रयोग किया गया, उदाहरणार्थ, 1960 व 1968 की केन्द्र सरकार कर्मचारियों की हड़ताल, 1974 की रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल व अन्य।

1960 में केन्द्र सरकार के कर्मचारियों की हड़ताल के बाद संयुक्त सलाहकार तंत्र की योजना प्रस्तुत की गयी जो कुछ मुद्दों पर द्विपक्षीय बातचीत एवं दूसरे अन्य मुद्दों के अंतर्गत अनिवार्य मध्यस्थता प्रदान करती है।

अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन आंदोलन को अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा कुछ समझौतों को स्वीकृत कराने में सफलता मिल चुकी है जो मज़दूरों के संगठित होने के

अधिकार व सामूहिक सौदेबाज़ी के अधिकार को परिभाषित करते हैं। 1948 का समझौता क्रमांक 87 संगठन की स्वतंत्रता और संगठित होने के अधिकार के संरक्षण से संबंधित है। 1949 का समझौता क्रमांक 98 संगठित होने व सामूहिक सौदेबाज़ी के अधिकार से संबंधित है। 1971 में मज़दूर प्रतिनिधियों (नियोक्ता एवं अधिकांश सरकारी प्रतिनिधि यह देखने के लिए एकजुट हो गये कि यह समझौते की शक्ल न ले ले) को प्रदत्त संरक्षण और सुविधाओं से संबंधित एक सिफ़ारिश स्वीकृत की गयी। ये विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की पहल पर स्वीकृत किये गये।

इन समझौतों और सिफ़ारिशों में निहित सिद्धांतों को हमारे देश में सरकार और एक वर्ग के रूप में नियोक्ताओं की तरफ़ से स्पष्ट स्वीकृति व समर्थन नहीं मिले हैं।

उन्होंने हर प्रकार से संगठित होने की स्वतंत्रता को खंडित किया है, हड़तालों पर रोक लगाकर उन्हें ग़ैरक़ानूनी क़रार दिया है, दमन के द्वारा उन्हें तोड़ा है व सामूहिक सौदेबाज़ी के अधिकार से वंचित किया है। इस रूप में, अभिव्यक्ति और मज़दूरों के संगठित होने की स्वतंत्रता पूंजीवादी व सरकार द्वारा नियंत्रित प्रचार माध्यमों द्वारा काटी-छाँटी गयी है जो उसे हर तरह के प्रचार से वंचित करती है और उसकी स्थिति को हर प्रकार से विकृत करती है।

1974 की रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल, आपातकाल के दौरान अपनाये गये अनेक दमनकारी उपाय, 1982-83 में 2 लाख से ज्यादा कपड़ा-मज़दूरों की डेढ़ वर्ष लम्बी हड़ताल औद्योगिक संबंधों के प्रति सरकारी रवैये के शानदार उदाहरण हैं।

जनता पार्टी जब सत्ता में आयी तो उसने व्यापक औद्योगिक संबंध क़ानून के नाम पर मज़दूरों के ट्रेड यूनियन अधिकारों पर हमला करने की कोशिश की। इसने समूचे ट्रेड यूनियन आंदोलन के एकजुट और जुझारू प्रतिरोध को जन्म दिया जिसने सरकार को इसे वापस लेने को मजबूर किया। जनता सरकार के पतन के साथ ही यह विधेयक रद्द हो गया।

सत्ता में कांग्रेस की वापसी के साथ ही अनेक खंडशः क़ानूनों और अधिसूचनाओं के ज़रिये मज़दूरों के अधिकारों पर नये-नये कुटिल हमले हुए, यथा, 30 सितम्बर, 1980 को सामान्य बीमा व्यवसाय (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1972 के तहत जारी अधिसूचना, अस्पताल एवं अन्य कर्मचारियों पर लगाये गये प्रतिबंध, आवश्यक सेवा अनुरक्षण अध्यादेश, 1981 जिसे उसी वर्ष अधिनियम के रूप में पारित कर दिया गया, राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर पारित किये गये अनेक अधिनियम, जिनकी परिधि में क़ानूनी ट्रेड यूनियन और जन कार्रवाइयाँ शामिल थीं और अंततः औद्योगिक संबंधों पर नवीनतम प्रस्तावित क़ानून रद्द हो गये

जनता विधेयक को पुनर्जीवित करता है।[1]

आवश्यक सेवा अनुरक्षण अधिनियम, एक बहु प्रयोजन धारा के अंतर्गत, जिसे देश के किसी भी सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों के प्रत्येक प्राधिकरण व उद्योग तक फैलाया जा सकता है, सरकार को हड़तालों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने का अधिकार देता है।

यह सरकार की मुद्राप्रसार बढ़ाने, मज़दूरी व महँगाई भत्ता जाम थोपने, इजारेदारों को ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफ़ा बटोरने और मेहनतकश जनता पर अधिक-से-अधिक परेशानियाँ डालकर संकट का विशिष्ट पूँजीवादी तरीक़ा खोजने की निहायत दिवालिया नीतियों के ख़िलाफ़ जनता के उभरते हुए विरोध के स्वर को दबाने का ज्वलन्त प्रयास था।

17 अगस्त, 1981 को सारे देश में 'काला दिवस' मनाकर, 23 नवम्बर, 1981 को राष्ट्रीय अभियान समिति के आह्वान पर संसद तक आज तक के सबसे बड़े मज़दूरों के मार्च और उसके बाद 19 जनवरी, 1982 को 'भारत बन्द' द्वारा मज़दूर वर्ग ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

तथापि आवश्यक सेवा अनुरक्षण अधिनियम संसद में पारित करा लिया गया और उसका हड़तालों व हड़ताल के आह्वानों के ख़िलाफ़ बार-बार प्रयोग किया जाता रहा है।

अध्यादेश से भिन्न, विधेयक को जब संसद में लाया गया, इसमें निष्पक्षता दिखाने हेतु तालाबन्दी व बन्दों से संबंधित दो नयी धाराएँ जोड़ दी गयीं। मगर क्या हड़तालों और तालाबंदी को एक समान माना जा सकता है? पहले भी 1954 में औद्योगिक संबंधों पर एक प्रश्नावली का जवाब देते हुए एटक ने इस विषय पर प्रकाश डाला था। उसका वक्तव्य यहाँ प्रस्तुत है :

"इस देश में व अन्य सभी पूँजीवादी राष्ट्रों में वर्तमान क़ानूनों के अंतर्गत हड़तालों व तालाबन्दियों को एक ही धरातल पर रखा जाता है। मगर वे हड़ताल का अधिकार स्वीकार करते हैं तो तालाबन्दी का अधिकार भी स्वीकार करते हैं। और जब वे हड़ताल पर प्रतिबन्ध या रोक लगाते हैं, वे तालाबन्दियों पर भी रोक लगाने की बात कहते हैं···

"इसमें क़ानून निर्माताओं ने नियोक्ताओं और मज़दूरों के बीच औपचारिक समानता के सिद्धांत के आधार पर अपना रुख़ अख़्तियार किया है।

"ऐसे सिद्धांत परिस्थिति की वास्तविकता पर आधारित नहीं हैं ···

"नियोक्ता द्वारा तालाबन्दी क्यों घोषित की जाती है? क्योंकि वह ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफ़ा कमाना चाहता है या मज़दूरी में कटौती कर अथवा मज़दूरों की काम की परिस्थितियों को बदतर बनाकर घाटा कम करना चाहता है। जब मज़दूर

नियोक्ता की शर्तों को मानने से इन्कार कर देते हैं, उन्हें काम से निकाल दिया जाता है।

"अगर नियोक्ता एक मज़दूर को काम से निकाल देता है और उत्पादन बन्द कर देता है, क्या वह अपनी जीविका खो बैठता है ?

"मगर मज़दूर पर इसका क्या असर होता है ? जीविकोपार्जन के एकमात्र साधन के खो बैठने पर मज़दूर को, जो केवल अपने श्रम के सहारे ही जीवित रहता है, भूखों मरने की स्थिति का सामना करना पड़ता है और लंबे गतिरोध की स्थिति में अनेक मौतें भी हो जाती हैं।

"अत: तालाबन्दी का अधिकार एक मज़दूर को भूखे मारने का अधिकार अथवा उसे भूख और मौत से डराने का अधिकार है।

"अगर एक मज़दूर हड़ताल में शामिल होता है और उत्पादन रोक देता है, वह अपनी जीविका खो बैठता है लेकिन अपने नियोक्ता की जीविका पर कोई प्रभाव नहीं डालता।

"अत: हड़ताल करने का अधिकार नियोक्ता को भूखे मारने का अधिकार नहीं है बल्कि मुनाफ़ा पैदा करने से इन्कार कर एवं ऐच्छिक दुखों और सामूहिक कार्रवाई द्वारा दबाव पैदा करने का अधिकार है। प्रभाव की दृष्टि से तालाबन्दी और हड़ताल के अधिकार एक जैसे नहीं हैं। एक भूखा मारने का अधिकार है जबकि दूसरा जीवित रहने का अधिकार है।

"अत: हड़ताल करने का अधिकार परम पावन है जबकि तालाबन्दी का अधिकार असामाजिक है व उचित नहीं है।"

ज़िन्दगी ने यह दिखा दिया है कि जबकि मज़दूरों पर हमला किया जाता है, उन्हें दंडित व दमित किया जाता है, यहाँ तक कि हड़ताल पर जाने के जुर्म में गोली से उड़ा दिया जाता है, किसी नियोक्ता पर तालाबन्दी का सहारा लेने के लिए अभियोग नहीं चलाया जाता, न ही जेल में डाला जाता है। मज़दूरों और नियोक्ताओं के बीच 'बराबर दूरी बनाये रखने' के बारे में यह बहुप्रचारित दावा है।

नवीनतम प्रस्तावित क़ानून में ट्रेड यूनियन विरोधी उपायों का एक सम्पूर्ण समुच्चय मौजूद है। यथा :

(क) ट्रेड यूनियनों को मान्यता देने के लिए मतदान की लोकतांत्रिक माँग को अस्वीकार कर देना और वेतन में से सदस्यता शुल्क की कटौती प्रणाली लागू करना जो जुझारू ट्रेड यूनियनों के हितों के प्रतिकूल और आज्ञाकारी ट्रेड यूनियनों के पक्ष में आसानी से इस्तेमाल की जा सकती है।

(ख) व्यापक शक्तियों समेत औद्योगिक संबंध आयोगों को थोपने का प्रयास करना जो वास्तविकता में हड़तालों को ग़ैर-क़ानूनी क़रार कर देंगे और

सामूहिक सौदेबाज़ी खत्म कर देंगे।

(ग) तथाकथित ग़ैर-क़ानूनी हड़तालों का समर्थन करने के लिए यूनियनों को पंजीकृत न करना एवं उन्हें व उनके पदाधिकारियों को दंडित करना।

(घ) रजिस्ट्रार को ट्रेड यूनियनों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार दे देना।

(च) यूनियनों के पंजीकरण पर गम्भीर प्रतिबन्ध लगाना।

(छ) ट्रेड यूनियनों पर मज़दूर-वर्ग विरोधी आचार संहिता थोपने का प्रावधान करना, जिसमें एकजुट कार्रवाइयों अथवा बन्दों में भागीदारी से मज़दूरों को वंचित करना सम्मिलित है।

नियोक्ताओं द्वारा उत्साहपूर्वक समर्थित प्रस्तावित क़ानून का उद्देश्य ट्रेड यूनियन आंदोलन को नपुंसक बनाना और मज़दूरों पर अनुशासित व पिछलग्गू ट्रेड यूनियनों को थोपना है।

ये ट्रेड यूनियन विरोधी उपाय सरकार द्वारा चलायी जा रही जन विरोधी और इजारेदार समर्थक आर्थिक नीतियों के पूरक हैं। न ही वे अलग-थलग घटनाएँ हैं; वे सभी पूँजीवादी शासक वर्गों द्वारा चलायी जा रही मज़दूर-वर्ग विरोधी मुहिम का एक हिस्सा हैं।

वर्तमान स्थिति में, अनेक देशों में पूँजीवादी शासक वर्ग श्रमिक-संघर्षों की उपलब्धियों को उलटने और वास्तविक रूप में सामूहिक सौदेबाज़ी के अधिकारों को छीनने का प्रयास कर रहे हैं। पहला, 'लचीलेपन' के नाम पर, जिसके बारे में उनका कहना है कि नयी प्रौद्योगिकी के आने पर यह अत्यावश्यक होता है, अनेक 'अनुचित श्रम हथकंडे' अपनाये जा रहे हैं। स्थायी मज़दूर अपने व्यवसाय की सुरक्षा खो बैठते हैं। अस्थायी कार्य, अंशकालिक कार्य और गृहकार्य की योजनाओं पर ज़्यादा बल दिया जाता है। सामूहिक समझौते पूरी तरह से ख़त्म कर दिये जाते हैं अथवा द्विस्तरीय मज़दूरी प्रणालियों को लागू किया जाता है। दूसरे, पूँजीवादी इजारेदारों के पक्ष में राज्य का हस्तक्षेप लगातार बढ़ रहा है और मज़दूरों की प्रतिरोध कार्रवाइयों को दबाने के लिए दमनकारी तंत्र का प्रयोग तेज़ी से बढ़ रहा है। श्रम क़ानून में बहुत से प्रतिक्रियावादी संशोधन किये गये हैं। विदेशी नियोक्ता ट्रेड यूनियन अधिकारों पर हमला करने के लिए सरकारों पर दबाव डाल रहे हैं और कुछ सरकारें विदेशी निवेशों व व प्रौद्योगिकी के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करने के नाम पर ऐसा करने की इच्छुक हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ऋणों के लिए अपनी एक शर्त कठोर ट्रेड यूनियन विरोधी क़ानूनों पर ज़ोर देता है। ये आधुनिक नव-उपनिवेशी हमलों के तत्व हैं।

हमारे देश में व अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर ट्रेड यूनियन आंदोलन इन हमलों के

विरुद्ध कड़ा प्रतिरोध प्रस्तुत कर रहा है और उन्हें परास्त करने के लिए संघर्ष कर रहा है।

ट्रेड यूनियन आंदोलन का कार्य मज़दूरों के अधिकारों के प्रत्येक अतिक्रमण अथवा उन पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्ध के विरुद्ध एवं लोकतांत्रिक औद्योगिक संबंधों के लिए संघर्ष करना जो प्रारम्भ में उद्धृत तीनों मौलिक व जैविक अधिकारों को मान्यता प्रदान करते हैं।

टिप्पणी :

1. हाल ही में, ट्रेड यूनियनवादियों के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, यहाँ तक कि आतंकवादी-विरोधी अधिनियम, संसद में इसके विपरीत आश्वासनों के बावजूद, प्रयोग में लाये गये हैं।

ज़रूर पढ़ें :

1. भारत में औद्योगिक संबंधों की समस्याएँ : एटक प्रकाशन
2. इन्द्रजीत गुप्त द्वारा लिखित मुख्य दस्तावेज व ट्रेड यूनियन अधिकारों पर सहयोगी रिपोर्ट—11वीं विश्व ट्रेड यूनियन कांग्रेस, बर्लिन

पाठ : 17

श्रम क़ानून

श्रम क़ानूनों की जानकारी ट्रेड यूनियन कार्य का एक आवश्यक अंग है।

अनेक विशेषज्ञों के इस क्षेत्र में आने के साथ आज श्रम क़ानून क़ानून की एक विशिष्ट शाखा बन चुके हैं। विशेष उद्योग में लागू हो सकने वाले क़ानूनों की कामचलाऊ जानकारी ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं के शस्त्रागार का एक ज़रूरी हथियार है।

श्रम क़ानून ट्रेड यूनियन संघर्षों के कई दशकों से होकर विकसित हुए हैं इसके साथ ही आरंभिक पूँजीवादी युग के प्राचीन जंगल राज की जगह क़ानून का शासन स्थापित करने के पूँजीवादी क़ानून-निर्माताओं और विधिवेत्ताओं के प्रयास हुए जो पूँजीवादी उत्पादन संबंधों को नियंत्रित करते हैं और व्यवस्था की कार्यप्रणाली में उत्पन्न समस्याओं को दूर करते हैं। श्रम क़ानूनों की प्रवृत्ति सामान्यत: श्रम के क्षेत्र में ठेका क़ानूनों और 'अनुबंध की पवित्रता' को 'सामाजिक न्याय' और 'मानवाधिकार' के सिद्धान्तों द्वारा संतुलित सामाजिक क़ानूनों से प्रतिस्थापित करने की रही है।

बहुत-से क़ानूनों के अंतर्राष्ट्रीय मानक अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के समझौतों एवं सिफ़ारिशों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं जो एक त्रिपक्षीय संगठन की सीमा के भीतर ही अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन के प्रतिफलन हैं। इन्होंने भारत जैसे सदस्य देशों द्वारा क्रियान्वयन के लिए आधार प्रस्तुत किया है।

विशेषकर औद्योगिक संबंधों एवं सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में, कुछ अन्य क़ानून भारतीय परिस्थितियों, विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना, संबंधित उद्योगों की विशिष्टताओं और देश के अन्दर वर्ग-संघर्ष के समीकरण से उत्पन्न हुए हैं।

श्रम क़ानूनों का अध्ययन उन नियमों के अध्ययन से शुरू होना चाहिए जो प्रत्येक ट्रेड यूनियन के लिए आधारभूत महत्व रखते हैं, ये हैं :

1. **ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926** : एक ऐसा क़ानून है जो ट्रेड यूनियनों के

पंजीकरण के लिए अवसर प्रदान करता है और कुछ संदर्भों में पंजीकृत ट्रेड यूनियनों से संबंधित क़ानूनों को परिभाषित करता है।

यह अधिनियम एक यूनियन के संविधान व कार्यप्रणाली, कोषों के उपयोग, वार्षिक विवरण के प्रस्तुतीकरण और ऐसा न कर सकने की स्थिति में जुर्माने के लिए न्यूनतम नियम प्रस्तुत करता है।

इस अधिनियम के तहत राज्य सरकारों ने नियम बनाये हैं एवं पंजीकरण हेतु प्रार्थनापत्र दाख़िल करने व वार्षिक विवरणों आदि को प्रस्तुत करते समय ट्रेड यूनियनों द्वारा इन नियमों का हवाला दिया जाना होता है।

2. **औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947** : इसका उद्देश्य आशंकित विवादों समेत औद्योगिक विवादों की जाँच और निबटारे एवं कुछ अन्य उद्देश्यों के लिए प्रावधान करना है।

इस अधिनियम में दी गयी उद्योग की परिभाषा से संबंधित निर्णय विधियों का एक बृहत संस्थान है। 'औद्योगिक विवाद' शब्द में रोज़गार व ग़ैर-रोज़गार से पैदा होने वाले विवाद एवं रोज़गार की शर्तों व कार्यगत परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाले विवाद, जैसे, तालाबंदी, छँटनी, हड़ताल, मज़दूरी, अनुशासनात्मक कार्यवाही आदि शामिल होते हैं।

यह अधिनियम बातचीत के द्वारा झगड़ों के निबटारों, श्रम-अदालतों में निर्णयादेशों और औद्योगिक पंचायतों द्वारा विवादों को सुलझाने के लिए एक कार्यप्रणाली निर्मित करता है। यह विवादों के संयुक्त संदर्भों, पंच-फ़ैसलों आदि के लिए असर प्रदान करता है। कुछ परिस्थितियों में यह हड़तालों व तालाबंदियों को प्रतिबंधित भी करता है।

इस अधिनियम के अंतर्गत कार्य-समितियाँ बनायी गयी हैं।

यद्यपि यह एक केन्द्रीय अधिनियम है, इसका प्रशासन राज्य के अधिकारियों के हाथ में है जिन्होंने इस अधिनियम के अंतर्गत स्वयं अपने नियम गढ़ लिये हैं।

(महाराष्ट्र, गुजरात और मध्य प्रदेश में नियोक्ता-कर्मचारी संबंधों को नियंत्रित करने और इस अधिनियम की परिधि में आने वाले कुछ उद्योगों में विवादों के निबटारे के लिए बम्बई औद्योगिक संबंध अधिनियम या इसका प्रतिरूप भी मौजूद है)

3. **औद्योगिक रोज़गार (स्थायी आदेश) अधिनियम, 1966** : यह अधिनियम औद्योगिक संस्थानों में नियोक्ताओं से अपने अंतर्गत रोज़गार की स्थितियों को परिभाषित करने और उनकी जानकारी मज़दूरों को उनके द्वारा समझी जाने वाली भाषा में कराये जाने की माँग करता है।

इस अधिनियम के तहत आदर्श स्थायी आदेश तैयार किये जाते हैं और नियोक्ता व कर्मचारियों की सुनवाई के बाद अधिकृत अधिकारियों द्वारा प्रमाणित

किये जाते हैं। स्थायी आदेशों में मज़दूरों का वर्गीकरण, दुर्व्यवहार व सजाएँ विशेष रूप से उल्लिखित हैं।

4. फ़ैक्टरी अधिनियम, 1948 : यह अधिनियम कारख़ानों में श्रम व कार्यगत परिस्थितियों को नियंत्रित करता है, यथा, स्वास्थ्य, सुरक्षा, कल्याण, काम के घंटे, मध्यावकाश, समय-विस्तार, अतिरिक्त समय, स्त्रियों व नौजवानों का रोज़गार, सवेतन वार्षिक अवकाश आदि।

5. मज़दूरी भुगतान अधिनियम, 1936 : इसका उद्देश्य मज़दूरी के भुगतान, मज़दूरी अवधि को परिभाषित करना, मज़दूरी से स्वीकृत कटौतियाँ एवं ग़लत कटौतियों या भुगतान में विलम्ब आदि से उत्पन्न दावों की कार्यप्रणाली को नियंत्रित करना है।

श्रम क़ानूनों की दूसरी श्रेणी उन नियमों की है जो कुछ उद्योगों से विशेष रूप से संबंधित हैं और उनमें रोज़गार की परिस्थितियों को परिभाषित करते हैं। इन उद्योगों से जुड़े हुए ट्रेड यूनियनवादियों को संबंधित क़ानून का अध्ययन करना आवश्यक है, उदाहरण के लिए :

—खान अधिनियम, 1952

—बाग़ान मज़दूर अधिनियम, 1951

—कार्यरत पत्रकार (सेवा शर्तें) और मिश्रित प्रावधान अधिनियम, 1955

—मोटर यातायात कर्मचारी अधिनियम, 1961

—गोदी मज़दूर (रोज़गार नियंत्रण) अधिनियम, 1948

—बीड़ी और सिगार मज़दूर (सेवा शर्तें) अधिनियम, 1976

—बिक्री पदोन्नति कर्मचारी (सेवा शर्तें) अधिनियम, 1976

सरकारी कर्मचारी, रेल कर्मचारी, बैंक और बीमा कर्मचारियों के अपने स्वयं के अधिनियम, सेवा-शर्तें व नियम हैं।

क़ानूनों की तीसरी श्रेणी असंगठित क्षेत्र के और कठोर श्रम करने वाले मज़दूरों से संबंधित है। विशाल असंगठित व कठोर श्रम क्षेत्र में साहस दिखाने वाले ट्रेड यूनियनवादियों को इन अधिनियमों और विधिनिर्णयों, जो उनके चारों ओर निर्मित किये गये हैं, की जानकारी होनी चाहिए। इन क़ानूनों में सर्वाधिक प्रमुख हैं :

1. न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, 1948 : इसका उद्देश्य कुछ अनुसूचित व्यवसायों में मज़दूरी की न्यूनतम दरें निश्चित करने का प्रावधान करना है।

उचित सरकार द्वारा, या तो एक सलाहकार समिति की नियुक्ति कर अथवा अधिसूचना द्वारा दरों को पहली बार तय किया जा सकता है या संशोधित किया जा सकता है।

इस अधिनियम में प्रत्येक नियोक्ता द्वारा रजिस्टरों व रिकार्डों के अनुरक्षण,

कर्मचारियों को वेतन-पुस्तिका व उपस्थिति कार्डों की पूर्ति एवं सरकार द्वारा किये गये दावों और शिकायतों के निर्णय हेतु इंस्पेक्टरों व अधिकारियों की नियुक्ति का प्रावधान है।

2. ठेका मज़दूर (नियंत्रण एवं समाप्ति) अधिनियम, 1970

3. बाल रोज़गार अधिनियम, 1970

4. समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976

5. अन्तर्राष्ट्रीय प्रवासी मज़दूर (रोज़गार नियंत्रण व सेवा शर्तें) अधिनियम, 1979

ये अधिनियम ठेका मज़दूरों के शोषण के ख़िलाफ़ बेगार और 'ताक़त के ज़ोर पर किये जाने वाले श्रम के ख़िलाफ़ (संविधान की धारा 23), निर्माण कार्यों में 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के रोज़गार के ख़िलाफ़ (धारा 24), लिंग को ध्यान में रखे बिना समानता (धारा 14) आदि के लिए लक्षित हैं। क्योंकि ये मज़दूर अधिकतर असंगठित हैं, इन क़ानूनों का साधारणतया पालन नहीं किया जाता। इससे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1982 में कुछ ऐतिहासिक निर्णयों और उसके तुरन्त बाद, एशियाई खेलों से संबंधित परियोजनाओं में नियुक्त कर्मचारियों के मुक़दमे में, जवाहरलाल नेहरू केन्द्रों में रोज़गार प्राप्त अनियमित मज़दूर और इसी तरह के अन्य मुक़दमों में परिपुष्ट 'सार्वजनिक हित मुक़दमों' का विचार उत्पन्न हुआ। एशियाई खेल परियोजना मुक़दमे में सर्वोच्च न्यायालय का 18 सितम्बर, 1982 का निर्देश द्रष्टव्य है :

"....जब कभी भी विभागीय रूप से अथवा ठेकेदारों द्वारा कोई निर्माण कार्य कराया जा रहा हो, सार्वजनिक क्षेत्र निगम समेत सरकार अथवा अन्य कोई सरकारी अधिकारी, जो इस तरह का कोई कार्य करा रहा हो, उसे यह देखने की पूरी सावधानी बरतनी चाहिए कि श्रम क़ानूनों का पूरी कड़ाई से पालन हो रहा है या नहीं। गड़बड़ी करने वाले अफ़सरों या ठेकेदारों के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने से पूर्व उन्हें ऐसे किसी प्रावधान का अनुपालन न किये जाने के बारे में मज़दूरों की ओर से प्राप्त किसी शिकायत की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उन्हें सावधिक निरीक्षण के साथ-साथ यह सुनिश्चित करने के लिए कि श्रम क़ानूनों के प्रावधानों का उल्लंघन नहीं हो रहा है और मज़दूरों को उनके अधिकारों और लाभों से वंचित नहीं किया जा रहा है जिसके वे इस तरह के प्रावधानों के तहत हक़दार हैं, और अगर ऐसे कोई उल्लंघन दृष्टि में आते हैं, तो गड़बड़ी करने वाले अफ़सरों या ठेकेदारों के विरुद्ध तुरन्त कार्रवाई की जानी चाहिए, उच्च अधिकारियों द्वारा आकस्मिक निरीक्षणों की एक प्रभावी प्रद्धति शुरू करनी चाहिए।"

उपर्युक्त क़ानूनों के अलावा, विभिन्न राज्यों में असंगठित शारीरिक मज़दूरों की विशिष्ट क़िस्मों से संबंधित कुछ अन्य क़ानून भी हैं, जैसे,

महाराष्ट्र का **मठाडी हम्माल और शारीरिक श्रमिक अधिनियम;** आंध्र प्रदेश का **मुट्टा, जट्टू, हम्माल एवं अन्य शारीरिक श्रमिक अधिनियम, 1976,** आदि।

क़ानूनों की चौथी श्रेणी बोनस के भुगतान अथवा सामाजिक सुरक्षा लाभों से संबंधित है, वे हैं :

1. बोनस भुगतान अधिनियम, 1965

2. मज़दूर क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923

3. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948

4. कर्मचारी भविष्यनिधि अधिनियम, 1952

5. मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961

6. ग्रेच्युटी भुगतान अधिनियम, 1972

पहले के एक पाठ में इन पर चर्चा की जा चुकी है।

क़ानूनों की पाँचवीं श्रेणी उनकी है जो राज्यों द्वारा कार्यान्वित किये जाते हैं और संबंधित राज्यों में ट्रेड यूनियनों को उनकी जानकारी होनी चाहिए। उनमें से कुछ हैं :

—बम्बई औद्योगिक संबंध अधिनियम, 1946 (एवं गुजरात व म० प्र० में इसके सहयोगी अधिनियम)

—महाराष्ट्र ट्रेड यूनियनों को मान्यता एवं अनुचित श्रम हथकंडे अधिनियम, 1971

—दुकान व संस्थान अधिनियम (प्रत्येक राज्य में) एवं अन्य।

क़ानूनों की छठी श्रेणी अपनी प्रकृति में विशुद्धतः दमनकारी है जो या तो विशेषकर श्रम से संबंध रखती है, या फिर सामान्य दमनकारी क़ानूनों का हिस्सा है। यह अन्य क़ानूनों में कुछ मज़दूर-विरोधी प्रावधानों के अतिरिक्त हैं। दमनकारी क़ानूनों का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक उपयोग सेवाओं, आवश्यक सेवाओं, सार्वजनिक सेवाओं को बनाए रखने आदि के नाम पर हड़तालों और संघर्ष के अन्य रूपों पर प्रतिबंध लगाना है। विधि संहिता में मौजूद उनमें से प्रमुख हैं :

आवश्यक सेवा अनुरक्षण अधिनियम

औद्योगिक सुरक्षा बल अधिनियम

राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम

संविधान की धाराएँ 311 व 310 अथवा बैंक क़ानून (संशोधन) अधिनियम का खंड 36 A (d) भी कर्मचारियों के विरुद्ध लक्षित हथियार हैं और प्रशासन द्वारा उन्हें मनमाने ढंग से उनके ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया जा सकता है।

अतः श्रम से संबंधित क़ानूनों को मोटे रूप में दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—अनुकूल एवं प्रतिकूल। अनुकूल क़ानून ज्यादा अधिकारों और

बेहतर परिस्थितियों के लिए मज़दूर वर्ग के संघर्षों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। जबकि प्रतिकूल क़ानून इन संघर्षों को तोड़ने, उनमें अवरोध पैदा करने व नष्ट करने के लिए शासक वर्ग के प्रयासों का परिणाम हैं। वर्तमान व्यवस्था में दोनों तरह के दबाव एक साथ काम करते हैं और श्रम क़ानून के परिणाम को तय करते हैं।

श्रम क़ानूनों के इतिहास, उनके क्रियान्वयन और व्यवहार के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

केवल मज़दूर वर्ग-संघर्ष ही अनुकूल श्रम क़ानून के मानदंड निर्धारित करता है।

समय के गुज़रने और बदलती हुई परिस्थितियों के साथ मज़दूर वर्ग की कार्रवाइयाँ इन मानदंडों में बदलाव लाती हैं।

मज़दूर वर्ग की कार्रवाई और चौकसी ही क़ानूनों में निहित अनुकूल प्रावधानों के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करती है।

मज़दूर वर्ग की कार्रवाई अर्जित की गयी क़ानूनी उपलब्धियों से मुकरने अथवा अनुकूल प्रावधानों को ख़त्म करने से रोकती है।

मज़दूर वर्ग-संघर्ष ही भारी दमन और मज़दूर-विरोधी क़ानूनों को रोकता है।

अत: श्रम क़ानूनों का क्षेत्र वर्ग-संघर्ष का कार्य-क्षेत्र है, न कि सिर्फ़ मुक़दमेबाज़ी का।

ज़रूर पढ़ें

विशेष व्यवसाय या उद्योग में ट्रेड यूनियन कार्य से संबंधित सभी श्रम क़ानून। प्रत्येक व्यक्ति को इन अधिनियमों में होने वाले नवीनतम संशोधनों एवं नये श्रम अधिनियमों से परिचित होना चाहिए।

पाठ : 18

ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली

ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली का आरंभिक बिन्दु यह है कि यूनियनें व्यापक संगठन हैं। उनकी प्रकृति से ही, उनके दरवाज़े प्रतिष्ठान अथवा उद्योग में किसी भी व प्रत्येक मज़दूर के लिए खुले हैं। वे सभी मज़दूरों को अपनी चौहद्दी में खींचती हैं, और ऐसा करने की उनसे आशा भी की जानी चाहिए, यद्यपि पूँजीवादी समाज की सर्वश्रेष्ठ परिस्थितियों में भी ट्रेड यूनियनें सम्पूर्ण वर्ग को समाहित नहीं कर पातीं। जैसाकि लेनिन ने लिखा है, "प्रत्येक मज़दूर, जो नियोक्ता व सरकार के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए संगठित होने की ज़रूरत अनुभव करता है, उसे ट्रेड यूनियनों से जुड़ना चाहिए। ट्रेड यूनियनों को अपना उद्देश्य प्राप्त करने में असफलता हाथ लगेगी अगर वे उन सबको नहीं जोड़ पाईं जिन्होंने कम-से-कम समझदारी का यह प्रारंभिक स्तर हासिल कर लिया है, अगर वे व्यापक संगठन नहीं बन पाईं।"

अत: ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली का पहला कार्य संस्थान अथवा उद्योग में, जिसकी यह यूनियन है, प्रत्येक मज़दूर को अधिकतम संभावित किसी भी तरह से भर्ती करना है, जिन्हें भी इस तरफ़ आकर्षित किया जा सके। क्योंकि सदस्यता हमेशा वार्षिक होती है (चाहे सदस्यता शुल्क मासिक, तिमाही या वार्षिक जमा किया जाए), अत: बिना किसी ढीलढाल के इसे एक निरंतर व सावधिक अभियान बनाना चाहिए।

संघर्ष में अथवा आंदोलन में स्वत:स्फूर्तता संगठन में स्वत:स्फूर्तता की पूरक होती है। इसकी सबसे ख़राब अभिव्यक्ति सदस्यता के प्रति अनियमित व छिटपुट रुख़ के रूप में होती है। एक यूनियन की ताक़त परिमाणात्मक रूप से सदस्यता के संदर्भ में मापी जाती है, न कि 'प्रभाव' के किसी अमूर्त्त दावे के आधार पर। स्वत: स्फूर्तता को आम मज़दूरों के बीच संगठित कार्रवाई से प्रतिस्थापित करना होगा।

आम मज़दूरों से निकटता का संबंध ही ट्रेड यूनियन कार्य का क ख ग है। नये मज़दूर समेत, जिसे यूनियन में शामिल होने के लिए सहमत किया जाना है, प्रत्येक मज़दूर के साथ निरन्तर संबंधों को विकसित करने और बनाए रखने का सबसे

अचूक उपाय नियमित सदस्यता अभियान है। यह उन्हें भी प्रभावित करने में सहायता पहुँचाता है जो यूनियनों के आपसी द्वेष से घृणा करते हैं और इसीलिए किसी भी यूनियन में शामिल होने में संकोच बरतते हैं। उनकी शंकाओं का समाधान करना होगा, उन्हें जुझारू ट्रेड यूनियनवाद की स्थिति में लाना होगा और यूनियन में भर्ती करना होगा। नियमानुसार, प्रत्येक वर्ष में एक या दो माह 'भर्ती माहों' के रूप में निश्चित कर दिये जाने चाहिए। वेतन में से सदस्यता शुल्क की कटौती प्रणाली के हमारे विरोध का एक आधार यह है कि सदस्यता अभियान के द्वारा मज़दूरों के साथ निजी संबंध को सदस्यता जुटाने की एक प्रशासकीय योजना द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया है।

ट्रेड यूनियन कार्यप्रणाली का दूसरा कार्यभार यूनियन की सांगठनिक संरचना के नियमित रूप से कार्य करने की ज़रूरत महसूस करना है। अपने उपनियमों और नियमावलियों के अनुसार, प्रत्येक यूनियन में सबसे नीचे एक साधारण सभा अथवा प्रतिनिधि सभा एवं सबसे ऊपर एक प्रबन्धक समिति और मनोनीत अधिकारी होते हैं एवं बड़ी यूनियनों तथा व्यापक अधिकार क्षेत्र में फैली यूनियनों के सन्दर्भ में कुछ मध्यवर्ती शाखाएँ, स्थानीय अथवा फ़ैक्टरी समितियाँ भी गठित की जाती हैं।

साधारण सभा अथवा प्रतिनिधि सभा की या तो वार्षिक बैठक, या फिर नियमों के अनुसार दो या तीन वर्षों में एक बार बैठक होती है। कम सदस्यता वाली यूनियन अथवा किसी एक स्थान या फ़ैक्टरी तक सीमित यूनियन के सन्दर्भ में सभी सदस्यों के लिए मिलना और साधारण संगठन में भागीदारी करना संभव है। मगर जब सदस्यता अधिक हो या फिर यूनियन का व्यापक क्षेत्र में प्रभाव हो, तब यह व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है। ऐसी स्थितियों में साधारण सभा की बैठकों में ज़्यादातर सदस्यों को भागीदारी करने का और अपने विचार प्रकट करने का मौक़ा नहीं मिलता। वस्तुतः, थोड़े-से सदस्य या फिर एक ही स्थान से संबंधित सदस्य साधारण सभा के क्रियाकलाप को हथिया लेते हैं जबकि सदस्यों का बहुमत अपने लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रयोग करने की संभावनाओं से वंचित रह जाता है।

ऐसी स्थितियों में उचित यह रहता है कि सदस्यतानुसार विभागीय साधारण सभाओं अथवा शाखा साधारण सभाओं द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की सभा हो। तब विभागीय अथवा स्थानीय शाखाएँ ट्रेड यूनियन संगठन की आधारभूत इकाई बन जाती हैं। यूनियन सदस्यता अभियान का लक्ष्य केवल ज़्यादा-से-ज़्यादा सदस्यों की भर्ती करना ही नहीं है बल्कि उन्हें फ़ैक्टरी या विभागीय, खान के मुहानों और परियोजना स्थल, कार्यशाला और पॉवर स्टेशन शाखा समितियों में संगठित करना भी है। मात्र यह ही कार्यस्थल को यूनियन के 'गढ़' में तब्दील कर सकता है और

इसकी स्थिति को सुदृढ़ बना सकता है। यूनियन की प्रबन्धक समिति व केन्द्रीय दफ़्तर को शाखाओं से नियमित सम्पर्क बनाए रखना चाहिए, संचार का द्विमार्गी माध्यम सुनिश्चित करना चाहिए, शाखाओं द्वारा संप्रेषित सदस्यों की माँगों और शिकायतों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, एकत्र की गयी राशि व केन्द्रीय खज़ाने में जमा की गयी राशि की जाँच करते रहना चाहिए। केन्द्र द्वारा नियमित चुनाव और शाखा समितियों की कार्यप्रणाली पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि शाखाएँ यूनियन द्वारा निर्धारित एक सामान्य नीति के अंतर्गत कार्य करें व उचित अनुशासन बना रहे जिससे एकता मज़बूत हो सके। यह भी ध्यान रखा जाए कि शाखाएँ कमज़ोर न होने लगें या काग़ज़ पर ही उनका अस्तित्व न हो। यह सिर्फ़ शाखा सचिव व अन्य पदाधिकारियों से निकट सम्पर्क रखकर उन्हें व्यक्तिगत सहायता व सलाह देकर एवं उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण पर भरपूर ध्यान देते हुए ही किया जा सकता है।

इससे हम तीसरे कार्यभार पर पहुँचते हैं अर्थात् यूनियनों के नियमों और उपनियमों के अनुसार नियमित चुनाव कराना।

प्रबंधक समिति का चुनाव करते हुए इस चीज़ का ध्यान रखा जाना चाहिए कि यह यूनियन की सम्पूर्ण सदस्यता का अधिक-से-अधिक संभव प्रतिनिधित्व करती हो। बृहद वर्गों के प्रतिनिधियों को समिति में जगह दी जानी चाहिए जिससे उपेक्षा की किसी आरंभिक अनुभूति को बड़ी शिकायतों के रूप में और अंततः संगठन के विखंडन में विकसित होने का अवसर न मिल सके। नियमों और परंपराओं में सभी शाखाओं के उचित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी चाहिए। अगर विरोधी समूह मौजूद हैं तो बहुमत द्वारा अल्पमत समूहों को निकाल बाहर करने की कोई कोशिश नहीं करनी चाहिए।

हाथ उठाकर भी चुनाव कराया जा सकता है। लेकिन अगर स्थिति की यही माँग है तो गुप्त मतदान बेहतर है। किसी निष्पक्ष संगठन अथवा सरकार का कोई प्रतिनिधि या अखिल भारतीय केन्द्र से चुनाव कराने का अनुरोध किया जा सकता है। मगर मतदान का कोई भी तरीक़ा क्यों न अपनाया जाए, सवैतनिक सदस्यों का (साधारण सभा की बैठक की स्थिति में) या उचित प्रकार से चुने गये प्रतिनिधियों का (प्रतिनिधि सभा की स्थिति में) रजिस्टर समय पर उपलब्ध होना चाहिए, सभी की उपस्थिति, जो मौजूद हों, उचित प्रकार से रिकार्ड की जानी चाहिए, सारी कार्रवाई ठीक तरह से नोट की जानी चाहिए एवं अंतिम परिणाम अध्यक्षता करने वाले अधिकारी द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित किये जाने चाहिए। इस संबंध में कोई भी अक्षमता अथवा अनुचित आचरण और जोड़-तोड़ विवादों को बढ़ाते हैं, मुक़दमेबाज़ी पैदा करते हैं और यूनियन में बिखराव पैदा करते हैं।

चुनाव परिणाम की ख़बर तुरन्त ही प्रेस और आम मज़दूरों को दी जानी

चाहिए और उचित रूप में ट्रेड यूनियनों के रजिस्ट्रार, साथ ही राज्य व अखिल भारतीय केन्द्र को सूचित कर दी जानी चाहिए। राज्य और अखिल भारतीय केंद्र का तुरन्त और प्रभावशाली हस्तक्षेप खुले बिखराव में विकसित होते हुए किसी भी विवाद को आरंभिक अवस्था में ही खत्म कर सकता है।

पदाधिकारियों के चुनाव में संगठन में स्थिरता की प्रमुख आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए और अपनी प्रतिष्ठा, प्रभुत्व व अनुभव निर्मित करते हुए निरंतरता की ज़रूरतों और नेतृत्व में परिवर्तन के बीच सामंजस्य बनाया जाना चाहिए।

ट्रेड यूनियन जनवाद का अर्थ मात्र यूनियन के नियमित चुनाव कराना नहीं है। वास्तविक जनवाद, न कि औपचारिक जनवाद, का अर्थ आम मज़दूरों को यूनियन की गतिविधियों में शामिल करना है। केवल इस प्रकार का वास्तवि कजन-वाद और आम भागीदारी ही बहुत-सी यूनियनों खासकर पिछड़े हुए मज़दूरों की यूनियनों, में प्रचलित ढाँचे 'नेतृत्व का जनता द्वारा अनुसरण,' 'एक नेता— हज़ारों अनुयायी' को खत्म कर देते हैं। इसके अलावा ट्रेड यूनियन मज़दूरों के हितों की रक्षा करने वाला एक अस्थायी नहीं बल्कि स्थायी संगठन है। सदस्यों को अपनी यूनियन में निरन्तर रुचि बनाए रखने के लिए सहमत किया जाना चाहिए। सर्वाधिक भिन्न समूहों और मज़दूर तबक़ों की अधिकतम संभावित संख्या तक विस्तृत आंदोलन और विभिन्न अन्य गतिविधियों में भागीदारी ही वास्तविक ट्रेड यूनियन जनवाद का प्रमाण है। और एक वर्ग के रूप में मज़दूरों की शिक्षा की शुरुआत है। आरम्भ में यूनियन में भर्ती ही मज़दूर को संगठन बनाने, किसी बड़े दुर्व्यवहार या अन्याय के खिलाफ़ लड़ने के लिए एकजुट होने की वर्णमाला सिखाती है। लेकिन यह सिर्फ़ संघर्षों और जन कार्रवाइयों के दौरान ही होता है कि मज़दूर **वर्ग के विरुद्ध वर्ग** का अर्थ व **बुर्जुआ शासन की प्रकृति** समझता है एवं समाजवाद व समाजवादी जनवाद में दीक्षित हो जाता है।

व्यक्तिगत मालिकों की संकुचित सीमाओं के रूप में यूनियनों को चलाने की प्रवृत्ति, यूनियन कार्यकारिणी को एक छोटे और चुनिंदा गुट तक सीमित कर देने, व्यापक संभव तबक़ों को आकर्षित करते हुए यूनियन संगठनों को एक जनवादी तरीक़े से चलाने में असफलता, यूनियन की नियमित सभाओं और चुनावों को कराने में असफलता—इन प्रवृत्तियों से संघर्ष किया जाना चाहिए और इन पर विजय प्राप्त की जानी चाहिए।

संस्थाओं में सहकारी समितियों और कार्य-समितियों के चुनावों को पर्याप्त महत्व दिया जाना चाहिए। वे यूनियन को मज़दूरों पर अपना प्रभाव और पकड़ बनाने में मदद करती हैं। कभी-कभी जहाँ यूनियनों पर दूसरी शक्तियों का नियंत्रण होता है, ऐसे चुनावों में सीमित सफलता भी आम मज़दूरों के साथ सम्पर्क क़ायम

करने में मदद करती है। प्रकट है कि इन निर्वाचित संगठनों में हमारे निर्वाचित प्रतिनिधियों को पर्याप्त मात्रा में योगदान देना होता है।

ट्रेड यूनियन कार्यप्रणाली का चौथा महत्वपूर्ण कार्यभार यूनियन के योग्य पदाधिकारियों का चुनाव है।

पदाधिकारियों को नियोक्ताओं, सरकार और अन्य यूनियनों के आगे यूनियन का प्रतिनिधित्व करना होता है, समझौता वार्ताएँ करनी होती हैं और शिकायतें प्रस्तुत करनी होती हैं, निर्णयादेशों और दूसरी क़ानूनी कार्रवाइयों को चलाना व मॉनीटर करना होता है, मज़दूरों के समूहों के साथ सम्पर्क रखना व उन्हें नेतृत्व देना होता है।

हमारी विशिष्ट स्थितियों में इसका तात्पर्य है 'बाहरी व्यक्तियों' और पदाधिकारियों के रूप में अनुभवी सक्रिय कर्मचारियों का एक सम्मिश्रण। पदाधिकारियों के चुनाव में उत्पीड़ित कर्मचारियों का एक विशिष्ट स्थान है।

बड़े संगठनों में विकसित होती यूनियनों और परिणामतः कार्यभार में वृद्धि के कारण दूसरे अंशकालिक कार्यकर्ताओं के साथ-साथ कुछ पूर्णकालिक पदाधिकारियों (कम-से-कम बड़ी यूनियनों में) का होना ज़रूरी हो गया है। पूर्णकालिक पदाधिकारी औपचारिक अथवा अनौपचारिक 'टाइम-ऑफ़' आधार पर कार्यरत कर्मचारी या कोई दंडित मज़दूर अथवा कोई 'बाहरी व्यक्ति', जिसे उचित वेतन दिया जाता हो, हो सकता है। इसके अलावा, अधिक सदस्यता व अनेक शाखाओं वाली बड़ी यूनियनों को रोज़मर्रा के दफ़्तरी कामों—जैसे, टाइप करना, पत्राचार करना, हिसाब आदि—के लिए वेतन प्राप्त स्टाफ़ की आवश्यकता होती है। बहरहाल, ऐच्छिक आधार पर यूनियन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में अधिक-से-अधिक यूनियन कार्यकर्ताओं को शामिल करने के प्रयास किये जाने चाहिए। वे ही, न कि वेतनभोगी स्टाफ़, यूनियन संगठन और इसकी कार्यप्रणाली की रीढ़ निर्मित करते हैं।

पाँचवाँ महत्वपूर्ण कार्यभार एक कार्यशील यूनियन दफ़्तर स्थापित करना है। बड़ी यूनियनों का एक स्वतंत्र दफ़्तर हो सकता है और प्रायः होता है। मगर छोटी यूनियनों को अपने दफ़्तर के रूप में एक निश्चित स्थान, अगर ज़रूरत हो तो दूसरों के साथ साझे में भी, पाने का प्रयास करना चाहिए। किसी भी स्थिति में ऐसे यूनियन दफ़्तरों को नहीं सहन किया जाना चाहिए, जो या तो किन्हीं मटरगश्ती करने वाले नेताओं के 'शबनमी बस्तों' या फ़ाइलों के भीतर पाए जाते हों या किसी के घर में पड़ी धूल भरी फ़ाइलों में पड़े रहते हों।

दफ़्तरी प्रबन्धन के लिए विभिन्न पदाधिकारियों के बीच कार्य का बँटवारा, प्रत्येक को उसकी क्षमता और इच्छा के अनुसार विशिष्ट कार्यों और विभागों का वितरण आवश्यक है। इसका आशय पदाधिकारियों के बीच क्रमबद्ध सहयोग,

नियतकालिक अभियानों के लिए शक्ति और संसाधनों के एक स्थान पर एकत्रीकरण से भी है।

आजकल अधिकांशतः दफ़्तरी कार्य की बेहद उपेक्षा की जाती है। फ़ाइलें अस्तव्यस्त रहती हैं। पत्रों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। दफ़्तरों का कोई निश्चित समय नहीं है, आदि-आदि। कुछ नेताओं के दिमाग़ में दूसरे संभावित 'क्रांतिकारी' कार्यों की तुलना में इस कार्य की सबसे कम प्राथमिकता है। प्रायः 'समय के अभाव' का भी हवाला दिया जाता है। वास्तव में, यह काम की अनियमित आदतों, गतिविधियों के नियोजन और ज़िम्मेदारियों को बाँटने में असफलता की स्थिति है। इस तरह की अविवेकी और अराजक प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष किया जाना चाहिए।

क्रमबद्ध दफ़्तरी-प्रबन्धन के लिए आवश्यक है कि सभी छोटे-बड़े यूनियन के दफ़्तरों द्वारा निम्नांकित कागज़ों और रिकार्डों को ठीक प्रकार से रखा जाए :

- पंजीकरण प्रमाणपत्र
- संबद्धता प्रमाणपत्र (अगर संबद्ध हो)
- संविधान की प्रतियाँ (नवीनतम संशोधनों सहित, अगर कोई हों)
- पदाधिकारियों एवं प्रबन्ध समिति सदस्यों की सूची
- सदस्यता रजिस्टर और तदनुरूप प्रतिपत्रक (अगर इसकी शाखाएँ हों तो शाखाओं द्वारा भेजे गये सदस्यता चार्ट और प्रतिपत्रक)
- बही-खाते व वाउचर
- कार्यवृत्ति-पुस्तक
- कुछ आवश्यक पत्राचार व परिपत्रों आदि की फ़ाइलें
- 'ट्रेड यूनियन रिकार्ड' एवं अन्य ट्रेड यूनियन व श्रमिक-पत्रों की फ़ाइलें
- स्थायी आदेश और अथवा उद्योग पर लागू सेवाशर्तें
- प्रमुख श्रम क़ानून (उनके नवीनतम संशोधनों समेत) एवं मुख्य निर्णय-विधियाँ

काम के वितरण के दौरान कम-से-कम एक पदाधिकारी को जिसमें एक दफ़्तर को चलाने की योग्यता है, इंचार्ज बना दिया जाना चाहिए, उसे मज़दूरों की सुविधानुसार एक निश्चित समय पर नियमित रूप से दफ़्तर में आना चाहिए। उसे एक-दो अन्य व्यक्तियों के साथ स्वयं को प्रतिवेदन की वर्तमान व्यवस्था सहित स्थायी आदेशों और अनुशासन संबंधी क़ानूनों से परिचित कर लेना चाहिए जिससे चार्जशीटों आदि के जवाब दिये जा सकें।

यूनियन के दफ़्तर में आने वाले मज़दूरों के साथ सम्मान, सहानुभूति और व्यवहार-कुशलता से बर्ताव किया जाना चाहिए। बातचीत और व्यवहार में न तो रौब का स्वर होना चाहिए, न चिड़चिड़ाहट। मज़दूर को विकर्षित नहीं किया

जाना चाहिए और उसे यह महसूस होना चाहिए कि उसकी बात को गंभीरता-पूर्वक लिया जा रहा है। उसे महसूस होना चाहिए कि यह उसका 'अपना' दफ़्तर है, कोई बाह्य संस्थान नहीं।

सरकारी अधिकारियों और प्रबन्धकों को संबोधित पत्र और प्रार्थनापत्र तथ्यों पर आधारित, विषय से संबंधित व तर्कपूर्ण होने चाहिए। वे नम्र किन्तु आत्म-गौरवपूर्ण, दृढ़ मगर उकसाने वाले नहीं, होने चाहिए।

व्यक्तिगत मामलों पर ध्यान दिया जाना चाहिए और उनकी तह में जाना चाहिए। सामान्य पिछड़ा हुआ मज़दूर इस चीज़ को बहुत महत्व देता है एवं स्वयं को असहाय व अप्रसन्न महसूस करता है अगर उसे अनुचित तरीक़े से झिड़क दिया जाए।

कोषों की हिफ़ाज़त, सदस्यता शुल्क और लेवी का क्रमिक एकत्रीकरण, वाउचरों द्वारा पुष्ट वैध व्यय एवं नियतकालिक लेखादेय दफ़्तरी प्रबन्धन के महत्वपूर्ण पक्ष हैं। इस संबंध में की गयी ग़लतियाँ प्रतिष्ठा को चोट पहुँचाती हैं। और झूठों, विवादों व विघटन के उर्वर स्रोत बन जाती हैं। अगर ज़रूरत हो तो लेखाकार द्वारा सहायता प्राप्त कोषाध्यक्ष को इसके लिए उत्तरदायी होना चाहिए। प्रत्येक यूनियन के लिए एक बैंक-एकाउण्ट आवश्यक है एवं हमेशा संयुक्त संचालन होना चाहिए।

दफ़्तर का कार्य संगठित करते हुए, जो अन्य सभी गतिविधियों को चलाने के लिए स्टाफ़ कार्य का ही एक रूप है, "किसी भी बारीकी की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए अगर उसका मज़दूरों के साथ कोई संबंध हो।"

छठा महत्वपूर्ण कार्य गोष्ठियों का संचालन करना है।

ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली में आम सभाएँ, गेट मीटिंग, सामूहिक सभाएं, शाखा सभाएँ, साधारण सभा की बैठकें, प्रबंध समिति की बैठकें आदि सम्मिलित हैं। प्रत्येक सभा की अपनी विशेषता होती है, अतः प्रत्येक के संचालन का अपना विशिष्ट तरीक़ा है। जहाँ तक संगठन व उपस्थिति, तकनीकी तैयारी व बैठक की विषय-वस्तु का प्रश्न है, प्रत्येक बैठक के लिए सावधानीपूर्वक तैयारी की निरपवाद ज़रूरत है।

अगर कोई बैठक समय का सामूहिक दुरुपयोग सिद्ध होती है, जहाँ केवल ज़बानी जमा-ख़र्च होता हो, तो उसका आगामी बैठकों पर भी प्रभाव पड़ता है। रुचि कम हो जाती है, उपस्थिति घट जाती है और काफ़ी संख्या में मज़दूर आगामी बैठकों से ग़ायब हो जाते हैं। ज़्यादातर सभाएँ इसीलिए प्रभावित करने में असमर्थ रहती हैं क्योंकि मंच उचित प्रकार से नहीं सजाया गया, पर्याप्त मात्रा में अग्रिम प्रचार नहीं किया गया, लाउडस्पीकर धीमा रहा और परिणामतः शक्ति बर्बाद होती है और काफ़ी मात्रा में धन व्यर्थ चला जाता है।

वार्षिक साधारण सभा की बैठकों अथवा प्रतिनिधि सम्मेलनों में निरपवाद रूप से एक लिखित रिपोर्ट तथा चर्चा व अंगीकरण हेतु एक लिखित वक्तव्य का होना आवश्यक है। ये पुनर्विचार, अनुभव के सामान्यीकरण और इस प्रकार सदस्यता के स्तर को बढ़ाने व यूनियन के प्रति अपनी निष्ठा को दृढ़ करने के मौक़े होते हैं। उन्हें गंभीरतापूर्वक लिया जाना चाहिए। संपर्क बनाये रखने, वापस रिपोर्ट करने और सदस्यों की रुचि बनाये रखने के लिए समय-समय पर सामान्य कोटि की साधारण बैठकें भी की जाती रहनी चाहिए।

प्रबंध समिति बैठकों की उचित सूचना और एक निश्चित कार्य-सूची होनी चाहिए तथा उन्हें व्यावसायिक तरीक़े से संचालित किया जाना चाहिए। कार्यवृत्त-पुस्तक में कार्यवृत्त को रखा और निर्णयों को चढ़ाया जाना चाहिए। उपस्थिति को दर्ज करने, अध्यक्ष द्वारा बैठक की शुरुआत की घोषणा करने एवं कार्य-सूची को अंगीकार करने के बाद पहला कार्य पिछली बैठक के कार्यवृत्त को पढ़ना व उसकी पुष्टि करना होना चाहिए जिसके तुरंत बाद पहले लिये गये निर्णयों के कार्यान्वयन और किये गये कार्य के बारे में सचिव की संक्षिप्त रिपोर्ट हो। इसके बाद दूसरी चीज़ें, उनमें से प्रत्येक पर चर्चा और तदनुरूप निर्णय आते हैं, अगर कहीं वैचारिक मतभेद हों तो एक सामूहिक निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। इस पर भी अगर कोई सदस्य अपनी बात पर ज़ोर देता है तो मतदान कराया जा सकता है और बहुमत द्वारा निर्णय लिया जा सकता है। अध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों का दायित्व है कि वे देखें कि चर्चा भले ही गर्म क्यों न हो, वह कहा-सुनी में न बदल जाये। मुख्य बात है, दूसरे के विचारों को सुनना, चाहे कोई उससे पूर्णतः असहमत क्यों न हो।

सातवाँ महत्वपूर्ण पहलू नेताओं के निजी व्यवहार से संबंधित है। यह नैतिक उपदेशों के समूह सदृश दिखायी पड़ सकता है। मगर एक ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता को अपने दैनिक कार्यों में व्यवहार के कुछ निश्चित मानदंडों, एक आचार-संहिता का पालन करना चाहिए।

§ आम जनता के साथ वह विनीत और धैर्यशील हो, न कि नौकरशाह और 'दंभी'। अक्खड़पन, अहम्मन्यता, धोखेबाज़ी, व्यक्तिगत आत्म-प्रदर्शन और आम जनता के प्रति एक कृपाकारी प्रवृत्ति उन्हें केवल विकर्षित करती है। उसे प्रत्येक व्यक्ति के प्रति एक सुसंस्कृत व्यवहार करना चाहिए, यहाँ तक कि समझौते और वार्ता की मेज़ पर 'दुश्मन' के साथ बातचीत करते हुए उसे नम्र और गौरवपूर्ण, किन्तु अपनी पहुँच में धारदार व दृढ़ होना चाहिए। अभद्रता वर्ग-संघर्ष का गुण नहीं है। गेट मीटिंगों में वह, जहाँ भी ज़रूरी हो, मज़ाक, कटाक्ष और समुचित क्रोध के हथियार का प्रयोग कर सकता है, मगर भद्दी गालियों का नहीं जोकि दुर्भाग्य-वश कुछ वक्ताओं के साथ आम बात है।

§ उसे दूसरी यूनियन के सक्रिय कार्यकर्ताओं और मज़दूरों के प्रति संकीर्णता-

वादी व कटाक्षपूर्ण व्यवहार से बचना चाहिए। कभी-कभी तीखी आलोचना ज़रूरी हो सकती है, मगर आदर और समानता की प्रवृत्ति बनी रहनी चाहिए। जब कभी आवश्यक हो जाये, विरोधी यूनियनों की आलोचना व आक्रमण एवं शत्रुतापूर्ण व विघटनकारी कार्रवाइयों का धारदार व प्रभावशाली ढंग से उत्तर देना चाहिए, लेकिन प्रतिशोध के लिए उद्यत नहीं होना चाहिए। आखिरकार ट्रेड यूनियन एकता और इन यूनियनों के साथ संयुक्त कार्रवाई हमारा लक्ष्य है।

§ उसे किसी भी तरह के सांप्रदायिक, जातिवादी अथवा उग्रराष्ट्रवादी व्यवहार के विरुद्ध सन्नद्ध रहना चाहिए तथा अपने आसपास दूसरों में इन्हें विकसित होने से रोकना चाहिए।

§ उन मज़दूरों की भाषा और रीति-रिवाज़ों की कम-से-कम एक कामचलाऊ जानकारी प्राप्त करने का उसे प्रयास करना चाहिए जिनके बीच उसे काम करना है। असंगठित, पिछड़े हुए और जनजातीय मज़दूरों के प्रति उसे विशेष रूप से लिहाज़ करना चाहिए जिससे उन्हें 'हेय दृष्टि से देखने' का आरोप उन पर न लगे।

§ उसे नियमितता एवं सम्यकता की आदत विकसित करनी चाहिए।

§ साथियों और सामान्य सदस्यों से अपनी आलोचना सुनने की आदत उसे डाल लेनी चाहिए और आगामी कार्यों के दौरान उनका ध्यान रखना चाहिए।

ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता का प्रतिमान न तो गौरवान्वित 'ट्रेड यूनियन बॉस' है, न ही कोई जनोत्तेजक जो मज़दूरों के पिछड़ेपन के साथ खिलवाड़ करता है तथा उनकी मूल वृत्तियों को उकसाता है, बल्कि एक ऐसा जननेता है जो क्रूरता व अन्याय की प्रत्येक अभिव्यक्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, जो आम जनता की भावनाओं और मनोदशा के प्रति संवेदनशील है, दमनकर्ताओं और शोषकों के विरुद्ध संघर्ष में उन्हें लामबंद कर सकता है और उन्हें आगे का मार्ग दिखाता है।

पाठ : 19

ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली (जारी)

पिछले पाठ में हमने कार्य-प्रणाली से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण कार्य-भारों की चर्चा की थी। अब हम ट्रेड यूनियन कार्य-प्रणाली की अंतर्वस्तु पर विचार करेंगे।

ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता को अपने उद्योग के बारे में जानना चाहिए। तभी वह अपने व्यवसाय व उद्योग से संबंधित मज़दूरी, काम की दरों, कार्य के बोझ एवं आधुनिकीकरण की योजनाओं आदि की समस्याओं को समझ सकता है। उद्योग में मज़दूर ही सर्वोत्कृष्ट शिक्षक होता है और कार्यकर्ता को बेहिचक उससे सीखना चाहिए। यह सिर्फ़ 'बाहरी व्यक्ति' पर ही लागू नहीं होता बल्कि एक कर्मचारी कार्यकर्ता पर भी लागू होता है क्योंकि शुरुआत में प्रत्येक कर्मचारी केवल अपने ही विशिष्ट कार्य को जानता है, न कि संपूर्ण उद्योग को।

अगली चीज़ अपने उद्योग से संबंधित श्रम क़ानूनों के कम-से-कम मूल तत्वों, स्थायी आदेशों आदि की जानकारी प्राप्त करना है। क़ानूनों और स्थायी आदेशों के सभी प्रावधानों को, जो मज़दूरों के हित में हैं, लागू व प्रयुक्त किया जाना चाहिए। सिवा उन जगहों के जहाँ वास्तविक रूप से कचहरी में पेशी की ज़रूरत हो, इन सब चीज़ों को 'वकीलों के हवाले कर देने की' प्रवृत्ति नहीं पायी जानी चाहिए। उसे ज्ञात होना चाहिए कि कौन से क़ानून मज़दूरों के ख़िलाफ़ हैं और किनके ख़िलाफ़ संघर्ष किया जाना है।

ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता को अपने उद्योग के अर्थशास्त्र, विकास के तरीक़े, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एवं सरकार द्वारा चलायी जा रही आर्थिक नीतियों की मूलभूत जानकारी होनी चाहिए। इसके बिना उसे माँग और पूर्ति, क़ीमतों, उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के बाज़ार, अपने उद्योग में लाभ अथवा हानि, सामान्य अर्थव्यवस्था में उस उद्योग के स्थान, उसके विशिष्ट व्यवसाय में व कुल मिलाकर पूरे देश में चलायी जा रही आर्थिक नीतियों के प्रभाव की जानकारी नहीं हो सकती। इसके बिना वह मुद्रा-प्रसार व बढ़ती हुई क़ीमतों, बजट करारोपण व घाटे, पूँजीपतियों को दी गयी रियायतों व ग़रीबों पर पड़ते अतिरिक्त बोझ, अंतर्राष्ट्रीय

व्यापार और भुगतान संतुलन, विदेशी ऋणों और अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों से सहयोग आदि की प्रक्रिया नहीं समझ सकता। जब तक उसे इन चीज़ों की जानकारी न हो, वह अपने व्यवसाय अथवा उद्योग के आम मज़दूरों को न तो शिक्षित कर सकता है और न उनके विश्वासों को दृढ़ बना सकता है, न ही अपने क्षेत्र के संघर्ष को आज अपनायी जा रही सामान्य आर्थिक नीतियों के विरुद्ध संघर्ष से जोड़ सकता है।

ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता को स्वयं को वर्गीय दृष्टिकोण से राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से परिचित कराना चाहिए। इसके बिना वह आर्थिक संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष से, बेहतर जीवन के लिए संघर्ष को शांति, निःशस्त्रीकरण व परमाणुमुक्त विश्व एवं सांप्रदायिक एकता व राष्ट्रीय अखंडता आदि के लिए संघर्ष से नहीं जोड़ सकता, जोकि ऐसे महत्वपूर्ण कार्यभार हैं जिनसे वह वर्तमान में जूझ रहा है। इसके बिना, वह मज़दूरों की वर्ग-चेतना का स्तर ऊपर नहीं उठा सकता।

उसे ट्रेड यूनियन आंदोलन के इतिहास व अपने विशेष दायरे में विशिष्ट संघर्षों और उपलब्धियों के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी होनी चाहिए जिससे वह न सिर्फ़ अतीत के अनुभवों से सबक़ ले सके बल्कि मज़दूरों को प्रेरित करने, उनमें संघर्षों और त्याग के ज़रिये विजय हासिल करने की भावना भरने एवं एक बेहतर भविष्य के लिए एक वर्ग के रूप में संघर्ष करने में समर्थ हो सके।

यह हमें विशेष व्यवसाय अथवा उद्योग के लिए यूनियन द्वारा माँगों के सूत्रीकरण के सवाल से रूबरू कराता है।

(i) माँगें स्थितियों की वास्तविकताओं से उत्पन्न होनी चाहिए। जिसके नाम पर माँगों का सूत्रीकरण होना है, वह व्यक्ति मज़दूर है। अतः सामान्य बुद्धि की माँग है कि मज़दूरों से सर्वप्रथम सलाह की जानी चाहिए। केवल तभी ज्ञात हो सकता है कि कौन-सी चीज़ मज़दूरों को आंदोलित कर रही है। मज़दूर के मूड को भाँपना आवश्यक है, वह मनःस्थिति जो परिस्थिति की निचोड़ है व मज़दूरों की तत्परता की सीमा को निर्धारित करती है।

(ii) यह सोचना कि माँगों को 'नेताओं' की आकाँक्षाओं अथवा अन्य बाहरी दबावों पर आधारित किया जा सकता है, पूरी तरह से व्यक्तिवाद व नौकरशाहीवाद है।

(iii) कभी-कभी ऐसी माँगें भी पेश की जाती हैं जिनके बारे में स्वयं मज़दूर सोचते हैं कि उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। कभी-कभी पुरानी माँगें भी यांत्रिक रूप से दोहरायी जाती हैं यद्यपि परिस्थिति बदल चुकी होती हैं और वे पुरानी पड़ गयी होती हैं। कभी-कभी प्रतिष्ठा की झूठी धारणाओं के तहत अथवा 'प्रतियोगी अर्थवाद' के तहत माँगें रख दी जाती हैं। कभी-कभी पूर्व अतिशयोक्तिपूर्ण माँगों, जो बढ़ा-चढ़ाकर पेश की गयी थीं और

असफल साबित हुईं, के प्रतिक्रियास्वरूप उन्हें छोड़ दिया जाता है, माँगों को सूत्रबद्ध करते हुए इन चीज़ों के विरुद्ध सुरक्षा करनी होती है।

(iv) यह देखना ज़रूरी है कि सूत्रबद्ध माँगें आम जनता में उत्साह जाग्रत कर सकें और इस प्रकार जन-कार्रवाई प्रवर्तित कर सकें। इसका अर्थ है कि माँगें सभी तबक़ों और श्रेणियों को समाहित करती हों और इस प्रकार की हों जो उनमें से सर्वाधिक पिछड़े लोगों सहित सभी के लिए बोधगम्य व स्वीकार्य हों।

(v) यह धारणा त्याग दी जानी चाहिए कि 'माँग-पत्र' जितना लंबा और वज़नदार होगा, उतना अच्छा होगा। माँग-पत्र कितना ही बड़ा और प्रभावशाली क्यों न हो, जब तक मज़दूर उसे व्यवहार में न लायें, वह काग़ज़ पर ही बना रहेगा। केवल वही माँग-पत्र प्रभावपूर्ण होगा जिसे आम मज़दूर याद रख सकें, दोहरा सकें तथा उसे अपना समझें। अतः माँग-पत्र को सभी मज़दूरों के लिए गंभीर, तथ्यपूर्ण व बोधगम्य होना चाहिए।

(vi) इन दिनों संगठित क्षेत्र में माँगों के सूत्रीकरण को उसी अथवा अनेक एक जैसे व संबद्ध उद्योगों में मज़दूरों द्वारा सामान्य सहयोगी कार्रवाइयों हेतु माँग-पत्र के स्तर तक उठाया गया है। इसके लिए उसी अथवा संबद्ध उद्योगों में अन्य यूनियनों के साथ व्यापक सलाह-मशविरा आवश्यक है।

(vii) इससे पूर्व कि माँग-पत्र को अंतिम रूप दिया जाये और पेश किया जाये, मज़दूरों के विभिन्न स्तरों द्वारा इस पर व्यापक रूप से चर्चा की जानी चाहिए एवं प्रबंधक समिति व साधारण सभा द्वारा इसे अंगीकृत किया जाना चाहिए।

(viii) विभिन्न तरीक़ों को अपनाते हुए आम मज़दूरों के बीच एक प्रचार-अभियान तुरंत छेड़ा जाना चाहिए जिससे कि माँग-पत्र को आवश्यक जन-समर्थन प्राप्त हो सके।

माँग-पत्र के पेश करने और प्रबंधकों को इसका नोटिस लेने के लिए बाध्य करने के बाद (यह केवल तभी संभव है जबकि आम जनता को इसके पीछे एकजुट कर दिया गया हो), मज़दूरों को समय-समय पर होने वाली प्रगति से अवगत कराते रहना चाहिए। यहाँ सत्य एवं तथ्यपूर्ण वक्तव्य चालबाज़ी और शब्दाडंबर की तुलना में ज्यादा शक्तिशाली सिद्ध होते हैं। जहाँ कहीं नियोक्ताओं के कुछ तर्क, या फिर दूसरी यूनियनों द्वारा लिये गये क़दम से संदेह उत्पन्न हो गये हों, उनका तथ्यों व तर्कों द्वारा प्रत्युत्तर दिया जाना चाहिए; और अगर कोई संशोधन आवश्यक समझा जाये तो मज़दूरों के समक्ष इसकी विवेचना की जानी चाहिए। इन सभी चरणों से होकर, माँगों के सूत्रीकरण से लेकर पेश किये जाने और वार्ता होने

तक मज़दूरों के बीच वर्गीय आत्म-विश्वास की भावना जीवित बनाये रखी जानी चाहिए।

मज़दूर वर्ग आंदोलन के महानतम सिद्धांतकार मार्क्स ने स्वयं ट्रेड यूनियन व्यवहार, मज़दूरों की वास्तविक स्थिति के विस्तृत अध्ययन पर आधारित मज़दूर वर्ग की आर्थिक व राजनीतिक माँगों के सूत्रीकरण का एक मॉडल प्रस्तुत किया है। 1886 में उन्होंने जाँच की एक सामान्य तालिका बनायी, जिसमें मज़दूरी से संबंधित सवाल—उनकी क़िस्में और दरें, व्यवसाय, रोज़गार प्राप्त लोगों की आयु व लिंग, शिक्षार्थन, काम के घंटे, कार्यस्थलों की परिस्थितियों, भौतिक परिस्थिति पर रोज़गार का प्रभाव, शिक्षा एवं नैतिक परिस्थिति, आदि-आदि शामिल किये गये हैं। 1880 में फिर से अपनी प्रसिद्ध रचना 'मज़दूरों के लिए प्रश्नावली' में, जिसमें चार भागों में 100 प्रश्न सम्मिलित हैं, वह इस तरह की जाँच की आवश्यकता पर लौटे हैं। जैसाकि एंगेल्स ने लिखा है, "मज़दूर वर्ग की दशा ही आज सभी सामाजिक आंदोलनों का आरंभिक बिंदु है।" यह कथन सूत्रीकृत माँगों पर संघर्ष के प्रत्येक आगामी चरण समेत आंदोलन के प्रत्येक चरण पर लागू होता है।

इस सन्दर्भ में, संघर्ष का प्रश्न और इस प्रकार **संघर्षों के रूपों का प्रश्न** मुख्य मुद्दा बन जाता है।

मज़दूर वर्ग आंदोलन की इसी प्रतिभा ने संघर्ष के विभिन्न रूपों की खोज की है जो ऐतिहासिक अनुभव, राष्ट्रीय परम्पराओं, विशिष्ट परिस्थितियों, मज़दूरों की चेतना के स्तर, उनकी मनोदशा, शत्रु के रुख़ व व्यवहार आदि पर निर्भर करते हैं। हमेशा नये-नये रूप खोजे जाते रहे हैं और आंदोलन के भंडार में एकत्र होते रहे हैं। अतः, ट्रेड यूनियनें कुछ परम्परागत व अप्रचलित रूपों—किन्हीं सर्वस्वीकृत रूपों अथवा रूपों की किन्हीं श्रेणियों से नहीं बँधी हैं जो एक नियम के तहत एक के बाद एक आते रहते हैं।

पहली चीज़, जो नोट करने की है, वह यह है कि ट्रेड यूनियनें मज़दूरों के संगठन का एक रूप नहीं हैं, बल्कि 'संघर्ष का एक अंग' हैं। संघर्ष के अलावा किसी अन्य तरीक़े से वे स्वयं को वर्ग संगठनों के रूप में नहीं बनाये रख सकतीं। ऐसे दिन हो सकते हैं, जबकि मज़दूरों के समूह सड़क के बीच कंधे से कंधा जोड़े मार्च करते हुए, उड़ती हुई पताकाओं और कसी हुई मुट्ठियों के साथ वर्ग शत्रु के ख़िलाफ़ बहादुरीपूर्वक आगे बढ़ रहे हों। दूसरी ओर ऐसे दिन भी हो सकते हैं जबकि वे अकेले अथवा समूहों में छायादार फ़ुटपाथों और गलियों में सिर्फ़ टहलक़दमी करते फिर रहे हों। लेकिन सन्नाटे का लम्बा समय आगामी दिनों के टकराव की तैयारी भी है। यहाँ कोई ठहरा हुआ तालाब नहीं है बल्कि बहता हुआ प्रवाह है—कभी शांति से बहता हुआ, कभी उफनता और उग्र रूप से निकलकर आगे बहता हुआ। प्रमुख

चीज़ आंदोलन की अग्रगामिता है—वेग, रफ़्तार और रूप गौण हैं।

संघर्ष स्वत:स्फूर्त हो सकते हैं या फिर योजनाबद्ध पहलक़दमी के एक हिस्से के रूप में उन्हें छेड़ा जा सकता है। मगर स्वत:स्फूर्त संघर्ष भी कोई आकस्मिक घटना नहीं है। जैसाकि लेनिन ने कहा है, "अपने सार में यह **भ्रूणीय अवस्था** में चेतना का—न इससे ज़्यादा, न इससे कम—प्रतिनिधित्व करता है। "जनता की स्वत:स्फूर्तता यानी मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त उभार ट्रेड यूनियन नेतृत्व द्वारा दक्षतापूर्वक हस्तक्षेप की माँग करते हैं, जिससे कि इन्हें दिशा दी जा सके और इन्हें सफल परिणति तक ले जाया जा सके। ऐसे अवसरों पर नेतृत्व की महान ज़िम्मेदारी होती है, कम नहीं। मगर ऐसी स्थितियों से निपटने की सामान्य अनिच्छुकता, 'असंगठित जनता' एवं कुछ कर दिखाने की इसकी तत्परता अथवा 'संगठित जनता' के कार्रवाई करने के मूड को कम करके आँकना हमारा साझा दुर्भाग्य रहा है।

किसी दिये हुए समय पर संघर्ष का सर्वश्रेष्ठ रूप वह होता है जो जनता के व्यापकतम सम्भावित तबक़ों को संगठित कर सकें और उन्हें स्वीकार्य हो। संघर्ष का यही रूप आगामी कार्रवाई की भूमिका बनता है। ट्रेड यूनियन आंदोलन की धारणा वह नहीं है जो कुछ नेताओं के दिमाग़ में है, बल्कि वह है जो मज़दूरों के व्यापक समूह की चेतना में स्थित है, जिन्हें संघर्ष के लिए तैयार किया गया है। क्या संघर्ष के उच्चतर स्तर के बाद निम्न स्तर आ सकता है? क्या किसी संघर्ष को एक रूप से अगले उच्चतर रूप की ओर उन्मुख नहीं होना चाहिए? उत्तर है, यह आंदोलन की ज़रूरतों से निर्धारित होगा, न कि किसी गणितीय क्रम से। आंदोलन का प्रत्येक वास्तविक चरण, प्रत्येक रूप—चाहे पूर्ववर्ती हो अथवा अनुवर्ती—मज़दूरों की अधिकतम सम्भव संख्या के समर्थन व सहयोग पर निर्भर करता है। सिर्फ़ कुछ ही लोगों की मंच-संचालित कार्रवाई, जो जनसमर्थन पर आधारित नहीं होती, दयनीय और महँगी विफलता में परिणत हो सकती है।

ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता को न तो जनसमूहों से आगे-आगे भागना चाहिए, न ही पीछे रहना चाहिए। वह यह चीज़ केवल अनुभव और अध्ययन से एवं जनसमूहों के निकट संपर्क से ही सीख सकता है। कभी-कभी उसे अनुभवहीन व्यक्तियों को नियंत्रित करना होता है और कभी सही कार्रवाई हेतु प्रेरित करना होता है।

वर्ग-संघर्ष के एक हथियार और प्रकार के रूप में हड़ताल के सवाल पर इस दृष्टि से विचार करना होगा। हम हड़ताल के बेरोक अधिकार के पक्ष में स्पष्टत: इसलिए हैं क्योंकि हम इसे सबसे ज़्यादा शक्तिशाली हथियार मानते हैं। इसीलिए इसका उपयोग उचित समय पर उचित तरीक़े से किया जाना चाहिए। हमारे देश में ट्रेड यूनियन आंदोलन 'एक दिवसीय हड़ताल' (एक तरह की दृढ़ संकल्प की चेतावनी), 'विरोध हड़ताल', 'एकता हड़ताल', 'सीमित अवधि की हड़ताल' (कुछ

घंटे अथवा कुछ दिन), 'अनिश्चितकालीन हड़ताल', 'राजनीतिक हड़ताल', 'औद्योगिक हड़ताल' और अंततः 'बन्द'—यानी सभी उद्योगों, व्यवसायों व अन्य गतिविधियों का पूर्णतः रुक जाना, जिसमें मज़दूर वर्ग विशेष मुद्दों पर लोगों के दूसरे तबक़ों को कार्रवाई के लिए प्रेरित करता है, के विभिन्न प्रकारों में पारंगत हो चुका है। ऐसे 'बन्द' स्थानीय, क्षेत्रीय, राज्यस्तरीय अथवा अखिल भारतीय हो सकते हैं।

हड़ताल का जो भी स्वरूप हो, इसकी अच्छी तरह से तैयारी करनी चाहिए, व ठीक प्रकार से संगठित करना चाहिए, तथा इसे किसी व्यवसाय के मज़दूरों की सामान्य एकता, उनके नैतिक व वस्तुगत समर्थन पर निर्भर करना चाहिए। एक हड़ताल को यदि सक्रिय समर्थन नहीं तो कम-से-कम चारों तरफ़ लोगों का निष्क्रिय समर्थन तो मिलना ही चाहिए, ख़ासतौर से जहाँ सार्वजनिक उपयोगिता अथवा सेवा उद्योग से ताल्लुक़ है। ऐसी परिस्थितियों में यह उक्ति, 'हम मछलियों की तरह हैं और लोग पानी की तरह' पूर्णतया चरितार्थ होती है। मज़दूर वर्ग आम जनता का हिरावल दस्ता नहीं होता जबकि इसकी गतिविधियाँ सहानुभूति के बजाय शत्रुता भड़काती होती हैं और जब वह आम जनता के विरोध में जा रहा होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मज़दूरों की माँगों की तर्कसंगति, नियोक्ताओं और सरकार के रुख़, हड़ताल की अपरिहार्यता और इसकी प्रगति बैठकों, प्रेस (जो पूर्ण सत्य ज़ाहिर कर भी सकता है और नहीं भी) एवं प्रसिद्धि व प्रचार के अन्य माध्यमों द्वारा पूर्ण रूप से प्रचारित किये जाने चाहिए। सक्रिय एवं नियोजित रूप में लोगों का समर्थन प्राप्त किया जाना चाहिए।

हड़ताल के सन्दर्भ में क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए ?

- हड़ताल का आह्वान करने से पूर्व समझौते के सभी रास्तों की छानबीन करो।
- हड़ताली कार्रवाई हेतु मज़दूरों की तत्परता एवं इच्छा पूरी तरह से व गम्भीरतापूर्वक सुनिश्चित करो। (हड़ताल के लिए मतदान सामान्यतः एक औपचारिक तरीक़ा है, अतः ऐसा करने के लिए यह आवश्यक रूप से सर्वोत्कृष्ट तरीक़ा नहीं है)
- एक बार हड़ताल छेड़ दिये जाने पर (अगर यह अनिश्चितकालीन हड़ताल है) दृढ़ता के साथ आगे बढ़ो और तोड़फोड़, नियोक्ताओं के गुंडों व पुलिस के दमन से इसकी रक्षा करो।
- योजनाबद्ध रूप से मज़दूरों के अन्य तबक़ों एवं लोगों का समर्थन व एकता हासिल करो। इस उद्देश्य हेतु एकता समितियाँ कारगर साबित हो सकती हैं।

- उचित प्रचार-प्रसार का इन्तज़ाम करो।
- हड़ताल के दौरान मज़दूरों के समूहों को संगठित रखो। यहाँ तक कि अगर कुछ मज़दूर लम्बी हड़ताल के दौरान अपने गाँवों को वापस चले भी जाएँ, तो भी उनसे सम्पर्क रखो। इसके लिए उचित तरीक़ों को कार्यान्वित करो। हड़ताल का प्रयोग मज़दूरों के समूहों को वर्ग-चेतना की शिक्षा देने व उनके संघर्ष के सामान्य वर्ग-संघर्ष के साथ संबंध को समझाने के लिए करो।
- अगर हड़ताल लम्बी खिंच जाये अथवा ऐसा होने की गुंजाइश हो तो उस स्थिति में राहत का इन्तज़ाम करो। (यह मनोबल बनाये रखने के लिए ज़रूरी है, भले ही वास्तविक उद्देश्यों के लिए यह अपर्याप्त हो)।
- उचित अवसर आने पर वार्ताओं के लिए तैयार रहो।

'क्या नहीं करना चाहिए' के संबंध में :

- मज़दूरों की मनोदशा और आकाँक्षाओं को जाने बग़ैर हड़ताल मत शुरू करो।
- जब वार्ताएँ असफल हो जाएँ या फिर नियोक्ता वार्ता करने से इन्कार कर दें और जब मज़दूर इसकी आवश्यकता पर सहमत हों, हड़ताल प्रारम्भ करने से मत हिचको।
- पूर्ण प्रतिबन्ध की स्थिति को छोड़कर, जबकि हड़ताल को किसी तरह ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दिया गया हो, कुछ अनिवार्य क़ानूनी प्रक्रियाओं का जान-बूझकर उल्लंघन मत करो।
- जबकि स्थिति की माँग हो, वार्ताओं अथवा मध्यस्थता प्रयासों के लिए दरवाज़े बन्द मत करो।
- कोई ऐसा कार्य मत करो जो तुम्हें जनता की सहानुभूति से वंचित कर दे।
- यद्यपि हड़ताल के दिन-प्रतिदिन के आचरण की क़ीमत पर नहीं, सभी प्रमुख काडरों को बेनक़ाब मत करो।
- और अंत में, जब मज़दूरों की मनोदशा पीछे हटने की हो, तो मनोबल और संगठन, जितना सम्भव हो, अक्षुण्ण बनाये रखते हुए क्रमबद्ध रूप से हड़ताल वापस लेने में मत झिझको। दूसरी तरफ़, आतंकित मत होओ और दमन व हार की सम्भावना से डरकर हड़ताल वापस मत लो। वास्तविक वापसी से पूर्व सभी तथ्यों को सामने रखते हुए आम मज़दूरों से विचार-विमर्श किया जाना चाहिए। जहाँ विभिन्न केन्द्रों में मज़दूर विभाजित हों, वहाँ जनवादी रूप से निर्वाचित कार्यकारिणी या सलाहकार समिति से अनिवार्य रूप से सलाह ली जानी चाहिए।[1]

इन दिनों बहुत-सी हड़तालें संयुक्त रूप से की जा रही हैं, जिनमें बहुत-सी यूनियनें शामिल हैं। ऐसे मामलों में हड़ताल के संचालन के लिए संयुक्त समितियाँ बनानी होंगी और हमें यह देखने में पहल करनी होगी कि ये समितियाँ सर्वसम्मति के आधार पर नियमित रूप से कार्य कर सकें।

यद्यपि यूनियन कार्यकारिणी व शाखा समितियाँ पहले से ही मौजूद हैं, यह आवश्यक है कि विभिन्न स्तरों पर, जहाँ सभी तबक़ों, विभागों और स्थानों के प्रतिनिधि व सक्रिय स्वयंसेवक शामिल हैं, व्यापक हड़ताल समितियाँ बनायी जाएँ।

कोई भी हड़ताल अपने आप में अंतिम व **निर्णायक संघर्ष** नहीं होती। संगठित पूँजी के ख़िलाफ़ लम्बे संघर्ष में यह एक प्रकार की मुठभेड़ है। यह 'युद्ध की पाठ-शाला' है। अतः हड़ताल का एक अंत होता है जैसे इसकी एक शुरुआत होती है और अंत कमोबेश एक पूर्ण विजय, एक समझौता, यहाँ तक कि एक बिलाशर्त वापसी होता है। आख़िरकार दुश्मन के साथ लगातार और लम्बी लड़ाई के बाद किसी सेना की सर्वाधिक विशिष्ट रेजिमेंट भी थकान का प्रभाव अनुभव कर सकती है और उसे युद्धक्षेत्र से क्रमिक रूप से हटना पड़ सकता है। अन्यथा, परिणाम नुकसानदायक हो सकते हैं। हमारे पास बम्बई के दो लाख कपड़ा मज़दूरों का उदाहरण मौजूद है, जो 1982-83 के दौरान डेढ़ वर्ष से ज़्यादा समय हड़ताल पर रहे। यह एक अभूतपूर्व एवं वीरोचित हड़ताल थी। मगर नेतृत्व द्वारा समझौते और क्रमबद्ध वापसी के अवसरों का तिरस्कार किया गया। परिणाम हुआ कि हड़ताल व्यक्त रूप से टूट गयी और भयंकर दमन हुआ, जिसके प्रभाव अभी भी जारी हैं। दूसरी ओर, ब्रिटेन के डेढ़ लाख से ज़्यादा खान-मज़दूरों द्वारा एक वर्ष लम्बी हड़ताल हुई, जिन्होंने अपनी हड़ताल एक संगठित रूप में वापस ली एवं बैंड बजाते हुए व फड़फड़ाती पताकाओं के साथ अपने परिवारों की सुरक्षा में वे काम पर वापस लौट आये। मगर सर्वाधिक कड़वे धक्के व रक्तरंजित पराजयों का भी एक सकारात्मक पक्ष होता है अगर मज़दूर तथा नेतृत्व उनसे सबक हासिल करें और उनका पालन किया जाए।

हड़ताल के दौरान एकजुटता की कार्रवाई हमारे क्रियाकलाप का सबसे कम-ज़ोर व उपेक्षित पक्ष रहा है। कई बार एकजुटता की अभिव्यक्ति के लिए पड़ोस की फ़ैक्टरी के मज़दूरों तक से सम्पर्क नहीं किया जाता। उन औद्योगिक क़स्बों में, जहाँ देहाती वातावरण मौजूद है, किसानों से सम्पर्क नहीं किया जाता। हमें यह देखना है कि यह एकजुटता की कार्रवाई ही मज़दूरों की क्रांतिकारी चेतना को रूपांतरित करती है। अपने समय में, हड़ताली कार्रवाइयों के दौरान मार्क्स को हमेशा 'हड़तालियों की विधवाओं, पत्नियों और बच्चों के दुःखों को हल्का करने के लिए धन संग्रहीत करने के लिए' अपील करने का मौक़ा मिला। यही चीज़ है, जो मज़दूरों को एक वर्ग के रूप में **सोचने** और **कार्य करने** को बाध्य करती है।

टिप्पणी :

1. नेतृत्व के कुछ हिस्सों में इस न्यूनतम जनवादी सिद्धांत को अनदेखा करने की प्रवृत्ति पायी जाती है जब कोई समझौता हो चुका हो और हड़ताल, जिसमें हज़ारों लोग शामिल हों, वापस ले ली गयी हो। यह प्रवृत्ति कि जनता सब समझती है, कर्मचारियों के उद्देश्य और उनके संगठन दोनों के लिए अनपेक्षित एवं अप्रिय परिणामों को जन्म देती है। हाल में ही कॉलिज अध्यापकों की हड़ताल का टूटना इस संदर्भ में एक ताज़ा उदाहरण है।

पाठ : 20

सामूहिक कार्य और सामूहिक लामबंदी

जनता की भागीदारी वास्तविक ट्रेड यूनियन जनवाद का आधार है, सामूहिक लामबंदी ट्रेड यूनियन संघर्षों का सार है।

अतः हमें 'मज़दूर वर्ग तक अपनी आवाज़ पहुँचाने' के लिए हरसम्भव प्रयास करना चाहिए। 'जनता के बीच में' हमारा एकजुटता का नारा होना चाहिए। और उनके साथ हज़ारों तरीक़ों से संबंध स्थापित करने के लिए हमें विभिन्न प्रकार की गतिविधियों को हाथ में लेना एवं प्रत्येक प्रकार के मज़दूर संगठनों जैसे, ट्रेड यूनियनों, सहकारी समितियों, महिला व नौजवान संगठनों, खेल व सांस्कृतिक संघों और समूहों आदि को विकसित व मज़बूत करना होगा।

पिछले तीन दशकों के दौरान हमने मज़दूर वर्ग में आने वाले परिवर्तनों को देखा है। विशेषकर सार्वजनिक व इजारेदार क्षेत्रों में औद्योगिक विस्तार एवं आधुनिक जटिल उद्योगों की वृद्धि ने समाज के सर्वाधिक अलग-अलग तबक़ों और भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमियों से आये मज़दूरों की क़तारों में 'नये रंगरूटों' की भयंकर बाढ़ ला दी है। नया मज़दूर अधिक शिक्षित व बेहतर व्यावसायिक दक्षता लिये हुए है। विशेषज्ञों और तकनीकी अर्हता प्राप्त मज़दूरों का अनुपात ज़्यादा है। ग़ैर-तकनीकी तबक़ों में भी हमारे पास व्यापार, लेखाकर्म, भंडारण और विपणन आदि क्षेत्रों में अर्हता प्राप्त लोग मौजूद हैं।

आंदोलन के समग्र तत्वों के रूप में उन्हें आकर्षित करने के लिए ट्रेड यूनियनों को उनके प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

कुल मिलाकर अधिकांश उद्योगों में मज़दूरों का शैक्षिक स्तर उन्नत हुआ है। यह एक लाभ है क्योंकि इससे शिक्षित मज़दूर की प्रकाशित साहित्य तक पहुँच आसान हो जाती है और उसकी समझने की शक्ति तीक्ष्ण होती है। लेकिन दूसरी ओर, चीज़ों को समझने और तथ्यों व तर्कों से क़ायल होने की उसकी प्राकृतिक अपेक्षा भी होती है। मात्र नारों से ही उसकी उदर-पूर्ति नहीं हो सकती व निर्देशित नहीं किया जा सकता।

यही नहीं, 'मध्यवर्गीय कर्मचारियों' के विशाल तबक़े, अध्यापक, इंजीनियर, अराजपत्रित अधिकारी, कनिष्ठ डॉक्टर आदि भी ट्रेड यूनियनों की जुझारु क़तारों में शामिल हो गये हैं।

दूसरे सिरे पर असंगठित उद्योगों एवं विकेन्द्रित क्षेत्र में मज़दूरों का समूह है। इसके अतिरिक्त दक्ष एवं अतिदक्ष तकनीशियनों के अल्पसंख्यक वर्ग से लेकर खदानों में लगे हुए, पत्थर तोड़ते हुए, ज़मीन खोदते हुए, भूमि साफ़ और समतल करते हुए, बोझा ढोते हुए अदक्ष मज़दूरों के विशाल समूह तक निर्माण मज़दूरों की एक बड़ी संख्या है। वे या तो बड़ी निर्माण फ़र्मों अथवा हज़ारों ठेकेदारों की वंश-परंपरा की चाकरी में हैं। कैम्पों में रहने वाले ये परियोजना मज़दूर सबसे बुरी तरह शोषितों में से हैं। समस्या है, इस समूह तक पहुँच पाना, इस पर स्थायी रूप से पकड़ बनाना और इसके जुझारूपन व शक्ति को संगठन तथा संघर्ष के लिए उपयोग में लाना।

अतः, एक ही समय पर ट्रेड यूनियन आंदोलन को 'प्रबुद्ध वर्ग' से लेकर सर्वाधिक पिछड़े हुए ठेका मज़दूर, जनजातीय अथवा देहाती मज़दूर तक—एकदम भिन्न क़िस्मों के 'नये मज़दूर' को सम्भालना व लामबंद करना होता है। ऐसा कर पाने में असफलता ऐसे 'दुस्साहसियों' और 'जनोत्तेजकों' को जन्म देने के लिए उर्वरा भूमि का सृजन करती है जो उन्हें रास्ते से विमुख कर देते हैं।

नौजवान मज़दूरों की अपनी इच्छाएँ व आकांक्षाएँ एवं भाँति-भाँति के स्वार्थ होते हैं। इन नौजवानों से सम्पर्क करने के लिए और आंदोलन के साथ उनके संबंधों को और मज़बूत करने के लिए ट्रेड यूनियनों को साधनों और विधियों को खोजना होगा। आज, सांस्कृतिक एवं खेल गतिविधियाँ हमारे ट्रेड यूनियन कार्य का मामूली हिस्सा बनकर रह गयी हैं।

रोज़गार में लगे हुए नौजवान मज़दूरों के अतिरिक्त हज़ारों ऐसे भी हैं जो बेरोज़गार हैं। कुछ लोग, जो रोज़गार पा चुके हैं और उन लोगों के बीच, जो रह गये हैं, एक सहानुभूति का बन्धन पाया जाता है। उदाहरण के लिए औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थानों से प्रशिक्षित लड़कों, शिक्षार्थी प्रणाली के अंतर्गत लड़कों, 'बड़ली मज़दूरों', काम के लिए एवं कुछ ही वर्षों के भीतर परियोजनाओं के शुरू होने की उम्मीद में इन स्थानों पर तकनीकी प्रशिक्षण संस्थानों को स्थापित करने की माँग करते हुए इन परियोजना स्थलों पर भूमि-प्रभावित नौजवानों तथा तालाबन्दी व छँटनी से प्रभावित मज़दूरों की विशिष्ट समस्याएँ हैं। ट्रेड यूनियनों, रोज़गारशुदा नौजवान मज़दूरों का, साथ ही उनका, जो गेट पर खड़े होकर काम माँग रहे हैं, ध्यान रखना होगा अन्यथा या तो वे अतिदक्षिणवादी अथवा अतिवामपंथी दिशा में मुड़ जाएँगे।

स्त्री मज़दूरों का यूनियनीकरण करने एवं उनकी विशिष्ट समस्याओं को

उठाने की समस्या की सामान्यतया घोर उपेक्षा की जाती है। वे सबसे कम मज़दूरी प्राप्त करती हैं, सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण से त्रस्त हैं तथा छँटनी का प्रायः पहला शिकार बनती हैं। मातृत्व लाभ के अलावा फ़ैक्टरी शिशुगृह जैसी विशेष माँगें, माताओं के लिए अपने बच्चों को दूध पिलाने की सुविधाएँ, नहाने-धोने और शौचालय की सुविधाओं की माँग उनकी तरफ़ से उठायी जानी चाहिए।

अनुभव यह बताता है कि जब भी कभी उन्हें संघर्ष में खींचा गया है, वे सर्वाधिक जुझारू तबक़े साबित हुई हैं। मुख्य बात है स्त्री ट्रेड यूनियन संगठनकर्ताओं को शिक्षित करना और यह देखना कि बैठकों का समय, स्थान आदि स्त्रियों की सभाओं के लिए इस तरह तय किए जाएँ कि वे उनकी सुविधा के अनुसार रहें। वर्तमान समय में स्त्रियों के यूनियनीकरण की संभावनाएँ बढ़ गयी हैं।

वर्गीय संघटन में होनेवाले परिवर्तनों से पैदा होनेवाली समस्याओं के अलावा आधुनिक मज़दूर वर्ग की भौतिक स्थिति, व्यवहारात्मक ढाँचों और विकासशील आवश्यकताओं के कारण अन्य समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं।

बड़े औद्योगिक केंद्रों में 'उपनगरीकरण' की भी समस्या है। कुछ दशक पूर्व, भौतिक रूप से लामबंदी का कार्य सरल था क्योंकि हज़ारों लोगों को रोज़गार देने वाली मिलें और फ़ैक्टरियाँ चारों ओर चालों से घिरे शहरी केंद्रों में स्थित थीं। प्राथमिक विधि थी मज़दूरों के समूहों को पारी शुरू होने से पहले अथवा बाद में गेट पर पकड़ लेना। ट्रेड यूनियन संगठनकर्ता और नेता गेट मीटिंगों में लंबे-चौड़े भाषण देने में माहिर थे। गेट पर चिपके हुए पोस्टर और यदा-कदा फ़ैक्टरी के आसपास वितरित हाथ के लिखे पुर्जों में संदेश निहित होता था। यह बड़े दफ़्तरों पर भी लागू होता था। शहरी विस्फोट ने बहरहाल शहरों के नियोजन और बाहरी स्वरूप को आधारभूत रूप से बदल दिया है। मज़दूरों और नियोक्ताओं का विशाल आकार उपनगरों में खिसक चुका है अब उन्हें घंटों आने-जाने में ख़र्च करने पड़ते हैं। घर वापस लौटने के लिए लोकल ट्रेनों, बसों अथवा किसी भी सवारी को पकड़ने के लिए बेहिसाब भीड़भाड़ रहती है। पारी ख़त्म होने के बाद गेट पर घूमने के लिए कुछ ही लोग इच्छुक होते हैं। हफ़्ते के सभी दिनों में ऐसा ही रहता है। छुट्टियों में उपनगरीय स्थानों में बिखरे हुए मज़दूरों का मीटिंग और जुलूसों में शामिल होने के लिए शहर आने का मन नहीं होता जब तक कि आंदोलन पूरी ऊँचाई तक न पहुँच जाए। टेलिविज़न माध्यम भी उन्हें घरों में बाँधे रखता है।

इन मज़दूरों से कैसे संपर्क किया जाए? एक तरीक़ा है 'भोजनकाल में एकत्रित होना।' गेट मीटिंगों और पोस्टरों के पुराने तरीक़े की उपयोगिता हालाँकि ख़त्म नहीं हुई है, लेकिन भाषणों को और ज़्यादा स्पष्ट व उद्देश्यपूर्ण एवं पोस्टरों को और अधिक आकर्षक होना चाहिए और उन्हें ऐसी जगहों पर लगाया जाना चाहिए जहाँ वे 'ध्यान आकृष्ट' कर सकें। इस स्थिति में बिखरी हुई जगहों पर,

जहाँ काम के ख़त्म होने के बाद मज़दूरों से संपर्क किया जा सके, सक्रिय कार्यकर्ताओं के समूहों को गठित करना एवं अधिक सूचनाप्रद पोस्टर, पर्चे और पैम्फ़लेट प्रकाशित करना महत्व रखता है।

सक्रिय कार्यकर्ताओं की एक विशाल संख्या और जनता को सूचनाएँ देने व शिक्षित करने के लिए ट्रेड यूनियन अख़बारों और राजनीतिक अख़बारों की भूमिका पर भी ज़ोर दिया जाना चाहिए। सभी ट्रेड यूनियनें अपने अख़बार प्रकाशित नहीं कर सकतीं। मगर केंद्र व राज्य स्तर के अख़बारों और औद्योगिक अख़बारों को गंभीरतापूर्वक प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। ट्रेड यूनियन अख़बारों की गुणवत्ता, उनकी आवृत्ति और उनके वितरण को कई गुना बेहतर बनाया जाना होगा।

भारत का औद्योगिक मानचित्र हज़ारों **मज़दूर बस्तियों** से आच्छादित है··· उनकी संख्या निरंतर बढ़ रही है।

सुरक्षा मज़दूरों, विद्युत श्रमिकों की बस्तियाँ, इस्पात नगर-क्षेत्र, नवीन व आधुनिकीकृत खानों, तेल, पेट्रो-रसायन आदि संकुलों की बस्तियाँ हैं; बड़े शहरों में सरकारी कर्मचारियों की बस्तियाँ भी पैदा हुई हैं।

मज़दूर बस्तियाँ न सिर्फ़ शहरी इलाक़ों में ही पायी जातीं हैं बल्कि गाँवों में भी पायी जाती हैं, जहाँ वे गाँवों के समुद्र में द्वीप की तरह दिखायी पड़ती हैं।

औद्योगिक मज़दूर कुकुरमुत्तों की तरह उगती हुई स्लमों और झोंपड़पट्टियों की एक बड़ी संख्या में भी रहते हैं। मगर यहाँ वे अर्द्धसर्वहारा व लुम्पेन तत्वों से मिलेजुले रहते हैं। स्लमों और झोंपड़पट्टियों में संगठन और संघर्ष की समस्याओं की अपनी चारित्रिक विशेषताएँ हैं। यही बात सरकारी आवास बोर्ड कॉलोनियों के बारे में भी सच है जहाँ इसी तरह यद्यपि कुछ भिन्न क़िस्म का मिश्रण पाया जाता है।

ट्रेड यूनियन संगठनकर्ता प्रायः मिलों, फ़ैक्टरियों अथवा दफ़्तरों के गेटों पर मज़दूरों से मिलते हैं, उन्हें लंबे-चौड़े भाषण देते हैं या फिर उनसे चर्चा करते हैं मगर बहुत कम ऐसा होता है कि वे उनसे उनके घरों पर मिलते हों।

और यही वह बिंदु है जहाँ उनसे निकट संपर्क स्थापित करने, उन्हें शिक्षित करने, उनकी राजनीतिक चेतना बढ़ाने और इस प्रकार अपना आधार मज़बूत करने में हमारी कमज़ोरी झलकती है।

फ़ैक्टरी का सायरन बजने के साथ ही मज़दूर की ज़िंदगी आरम्भ या ख़त्म नहीं होती। फ़ैक्टरी अथवा दफ़्तर में बिताये गये आठ घंटों के बाद शेष समय वह बस्ती या उसके आसपास बिताता है। वहीं उसका सामाजिक जीवन तथा उसके अन्य सम्बन्ध विकसित होते हैं।

जब वह अपने क्वार्टर पर लौटता है और फ़ैक्टरी की धूल-मिट्टी और कालिख

साफ़ करता है, वह भी उन सभी चीज़ों को बिसारने के लिए प्रवृत्त होता है जो उसे उसके कार्यस्थल पर प्रभावित करती हैं व गतिशील बनाती हैं। उन अवसरों को छोड़कर जबकि आंदोलन पूरे ज़ोर पर हो और मालिकों तथा सरकार के साथ गंभीर टकराव अथवा संघर्ष की स्थिति पैदा हो गयी हो, ऐसा होता है।

शेष दिनों के लिए वह उन गतिविधियों में फँसा रहता है जो उसे वर्ग चेतना की ओर प्रेरित करने वाली गतिविधियों की ठीक उलटी होती हैं। इनमें धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, यहाँ तक कि जातिवादी व सांप्रदायिक गतिविधियाँ भी सम्मिलित हैं जो हमारी विशिष्ट पृष्ठभूमि में उसके दिमाग़ पर व्यापक प्रभाव डालती हैं।

जहाँ कहीं इस तरह की गतिविधियों का भी अभाव होता है, निरी ऊब उसे नुक़सानदेह व नकारात्मक गतिविधियों की तरफ़ प्रेरित करती है—खासकर तब जब बुर्जुआ व्यवस्था के गहराते हुए संकट के साथ समाज में सामाजिक और नैतिक सूत्र हर रोज़ पतनशील होता जा रहा हो।

जबकि स्वयं मज़दूर कम-से-कम गेट पर, यूनियन के दफ़्तर में, या फिर मैदान में लाल झंडे का सामना करता है और इसीलिए उसके दिमाग़ पर कब्ज़ा करने के लिए दो विपरीत प्रभावों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होती है, उसके पत्नी व बच्चे लाल झंडे के संदेश के प्रत्यक्ष संपर्क में इस तरह नहीं आ पाते।

अतः हम देखते हैं कि जबकि ट्रेड यूनियन के मुद्दों पर मज़दूर बड़ी संख्या में लाल झंडे के पीछे एकजुट होते हैं, राजनीतिक, सामाजिक या सांप्रदायिक मुद्दों पर वे और उनके परिवार के सदस्य एकदम दूसरे झंडे के नीचे एकत्र हो जाते हैं यहाँ तक कि सर्वाधिक जुझारू ट्रेड यूनियन संघर्ष एवं सर्वाधिक सक्रिय ट्रेड यूनियनें भी इस स्थिति को मूलभूत रूप से बदलने में असफल रही हैं।

बहुत-सी ऐसी बस्तियाँ हैं जहाँ मज़दूरों का बहुसंख्यक समुदाय हमारी यूनियनों व हमारी ट्रेड यूनियनों के प्रभाव में हैं, मगर इसके बावजूद अगर हम दीवारों को, उन पर लिखे नारों और इबारतों को देखें तो हम पाएँगे कि ये हमारे अपने नारों के बजाय कुछ और ही हैं। जो गतिविधियाँ वहाँ होती हैं, वे हमारी विचारधारा, राजनीति और हमारे क्रांतिकारी वर्ग-दृष्टिकोण का निषेध करती हैं।

अगर हमें इस स्थिति को बदलना है, तो ट्रेड यूनियन कार्य के साथ-साथ हमें बस्तियों में रहने वाले मज़दूरों और उनके परिवार के सदस्यों के बीच बहुत-सी दूसरी तरह की गतिविधियों को भी विकसित करना होगा। एक ही उद्योग से संबंधित मज़दूरों के विशाल संकेंद्रण की मौजूदगी इन विविध प्रकार के कार्यों को योजनाबद्ध रूप से हाथ में लेने के लिए उत्तम अवसर प्रदान करती है।

हरेक बस्ती में हमें किसी-न-किसी तरह के 'कल्याणकारी संघों' को गठित करने का प्रयास करना होगा। बड़े नगरों में क्षेत्रों के हिसाब से एक से अधिक ऐसे संघ

गठित करना आवश्यक हो सकता है।

ट्रेड यूनियन और राजनीतिक नेतृत्व के प्रयासों से प्रारंभिक रूप में गठित संघ, जितना संभव हो, उतने व्यापक आधार वाले होने चाहिए, अनेक नागरिक मुद्दों जैसे पानी, बिजली, सफ़ाई, जोड़ने वाली सड़कें, स्कूल की सुविधाएँ या बच्चों के लिए स्कूल-बसों की सुविधा आदि, को हाथ में लेने के लिए वे आवश्यक और उपयोगी हैं।

कुछ नगर-क्षेत्रों में मज़दूरों और उनके परिवार के सदस्यों को अपने स्थानीय संगठनों को चुनने के नागरिक अधिकार से वंचित किया जाता है। यूनियन और व्यापक आधार वाले कल्याणकारी संघों को इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए लड़ना है।

संयोगवश, यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र आवास बस्तियों का निर्माण करता है, तथापि वह ऐसा सभी मजदूरों के लिए नहीं करता बल्कि केवल कुछ ही प्रतिशत के लिए करता है। पास के इलाक़ों या गाँवों में कुछ मज़दूर अपने खुद के मकानों में रहते हैं। शेष लोगों को अपने हाल पर छोड़ दिया जाता है।

अतः हम देखते हैं कि अधिकांश बस्तियों के आसपास गंदी बस्तियाँ उग आती हैं। और मज़दूरों के एक निश्चित तबक़े को उनमें रहना पड़ता है। निःसंदेह, उन्हें वे सुविधाएँ नहीं मिल पातीं जो उनके अधिक सौभाग्यशाली भाईबंद पाते हैं। यह एक मुद्दा है जिसे हमें उठाना चाहिए।

इसके साथ ही हमें उन ग़ैर-मज़दूर तबक़ों की समस्याओं को नहीं नकारना चाहिए जो बस्तियों में छोटे दुकानदारों के रूप में जमा हो जाते हैं और मज़दूरों को अपनी सेवाएँ देते हैं। हमारी यह देखने की कोशिश होनी चाहिए कि हमारे कार्यकर्ता इन सभी गतिविधियों में और कल्याणकारी संघों के कार्य में प्रमुख हिस्सा लें क्योंकि केवल यही चीज़ सुनिश्चित कर सकती है कि उनकी गतिविधियों का दायरा व्यापक बने।

शहरी इलाक़ों में गंदी बस्तियों का प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होना पूँजीवादी विकास का, विशेषकर हमारे जैसे विकासशील देशों में, एक नियम है, जहाँ आर्थिक विकास के साथ-साथ दरिद्रता, देहाती ग़रीबी एवं सामाजिक व आर्थिक शोषण भी विकसित होते हैं और बड़ी मात्रा में ग्रामीण इलाक़ों से शहरी इलाक़ों की ओर प्रवसन को प्रेरित करते हैं। जैसे-जैसे अधिक-से-अधिक लाभ कमाने की होड़ में पूँजी अपने अनथक अभियान में आगे बढ़ती है, यह ज़्यादा-से-ज़्यादा शहरी और उपनगरीय भूमि पर कब्ज़ा करती जाती है एवं श्रमिक आबादी व रोज़गार के इच्छुकों को अवैध रूप से कब्ज़ा कर गंदी बस्तियों में रहने वालों के रूप में दलदली बेकार भूमि और साँपों व कीड़ों से भरपूर परती ज़मीन के नरक में धकेल देती है। गंदी बस्तियों की जनसंख्या को नियंत्रित रखने के लिए यह लुम्पेन—और गंदी

बस्तियों के मालिकों, ग़ैर-क़ानूनी ढंग से शराब बनाने वालों व मटका वालों (सट्टा लगवाने वालों), 'दादा' और 'मवालियों' की परजीवी सेना को पालता और बनाए रखता है, ठीक वैसे ही जैसे फ़ैक्टरियों में उन पर नियंत्रण रखने के लिए यह ठेकेदारों और ओवरसियरों की फ़ौज को रखता है।

मज़दूरी देने के साथ-साथ मज़दूर को आवास प्रदान करना पूंजीपति का दायित्व नहीं है। पूंजीवादी राज्य आवास के अधिकार को एक जनवादी व मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता नहीं देता।

संगठित क्षेत्र में ट्रेड यूनियन आंदोलन ने मज़दूरों और कर्मचारियों के लिए 'मकान किराया भत्ता' के लिए संघर्ष किया है और जीत हासिल की है। एक अधिक वास्तविक आधार पर इसने मकान किराये भत्ते में बढ़ोत्तरी हासिल की है। इसने सरकार को आवास बोर्ड गठित करने और औद्योगिक आवास, निम्न आय-वर्ग और मध्यम आय-वर्ग आवास आदि का निर्माण कार्य हाथ में लेने के लिए बाध्य किया है। इसने कुछ नियोक्ताओं को बस्तियाँ बनाने और कुछ ठेकेदारों को निर्माण-स्थलों पर अस्थायी आवास सामग्री मुहैया कराने के लिए बाध्य किया है। द्विपक्षीय समझौते के हिस्से के रूप में अनेकों यूनियनों ने 'आवास अग्रिम' हासिल किया है। और अभी तक, सभी शहरी केन्द्रों और औद्योगिक संकुलों में आवास का प्रश्न ज़्यादा-से-ज़्यादा प्रखर होता जा रहा है। अतः **आवास के प्रश्न** को ट्रेड यूनियन कार्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होना चाहिए।

दूसरा फ़ौरी कार्य महिलाओं को **एकजुट** करना है जो बस्तियों में रहती हैं और उन्हें महिला संघ की इकाइयों के रूप में गठित करना है। संघर्ष और कार्र-वाइयों के दौरान ऐसे महिला संगठन न सिर्फ़ विश्वसनीय निधि के रूप में कार्य करते हैं, बल्कि वे अपनी स्वतंत्र कार्रवाइयाँ भी विकसित करते है। महिला संघ इकाइयों की गतिविधियों के फलस्वरूप बस्तियों के सामाजिक और नैतिक वाता-वरण में हमेशा पर्याप्त सुधार होता है।

ऐसे ही प्रयास बस्तियों में रहने वाले मज़दूरों के नौजवान बेटों को युवा संघों और नौजवान पायनियरों की इकाइयों में संगठित करने के लिए किये जाने चाहिए। हर स्थिति में इस कार्य की उपेक्षा के अत्यंत नुक़सानदेह परिणाम निकलते हैं।

जबकि मज़दूर लाल झंडे का एक विश्वासपात्र समर्थक हो, यह हो सकता है कि युवाओं के विशाल तबक़ों, उसी मज़दूर के बेटों या छोटे भाइयों पर शत्रुतापूर्ण प्रभावों का गहरा असर हो। क्रांतिकारी ट्रेड यूनियन और राजनीतिक नेतृत्व के लिए यह एक दूसरी समस्या पैदा करता है।

अतः यह ज़रूरी है कि 'जवानी में ही उनसे संपर्क' किया जाये और उन्हें युवा संघ व नौजवान पायोनियरों के कार्य में खींच लिया जाये। इस संबंध में अखिल भारतीय युवा संघ नेतृत्व की मदद और सहयोग के साथ ट्रेड यूनियन नेतृत्व को

गंभीर क़दम उठाने चाहिए।

बस्तियों के भीतर विकसित होती सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इनमें क्लबों अथवा सामुदायिक केन्द्रों, अध्ययन-कक्षों और पुस्तकालयों के गठन एवं नाटक व गायन मंडलियों का संगठन शामिल हैं। समीपवर्ती इप्टा इकाइयों से इस बारे में मदद ली जा सकती है।

संस्कृति के लिए प्यास इतनी मज़बूत है और हमसे पैदा होती हुई वस्तु इतनी कम, यहाँ तक कि ग़ैर-मौजूदा है कि हमारे अपने मज़दूर और उनके परिवार दूसरे स्रोतों की ओर उन्मुख होने लगते हैं। प्रतिक्रियावादी पुनरुत्थानवाद एवं और जातिगत विभाजकता के बढ़ते हुए वातावरण में, जो जनता की प्रगतिकामी, जुझारू और वामोन्मुख मनोदशा का विरोध करने के लिए सोच-समझकर लक्षित है, इन दूसरे स्रोतों द्वारा डाला गया प्रभाव बेहिसाब ज़हरीला है।

प्रत्येक वर्ष उपयुक्त मौसमों में बहुत से त्यौहार मनाये जाते हैं। बहुत से अवसरों पर मुद्दा यह होता है : कौन विभिन्न संघों, क्लबों या अस्थायी इकाइयों पर नियंत्रण रखता है जो त्यौहारों या कार्यक्रमों को संचालित करते हैं? आम मज़दूर और उनके परिवार इन सभी त्यौहारों में उत्साहपूर्वक हिस्सा लेते हैं।

क्या उन्हें उन लोगों के हाथों में छोड़ दिया जाना चाहिए जो उनके महत्व को कम करने का प्रयास करते हैं और उनका अपने प्रतिक्रियावादी व साम्प्रदायिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल करते हैं अथवा सामाजिक प्रगतिशील शक्तियों द्वारा उनका प्रयोग किया जाना व उन्हें समझाया जाना चाहिए ताकि वे एक नयी अंतर्वस्तु के साथ पुराना रूप ग्रहण कर सकें? निश्चित रूप से ऐसे सभी कार्यक्रम अपनी प्रकृति से ही भागीदारी की माँग नहीं करते। इस क्षेत्र में विभेद और निर्णय किया जाना चाहिए।

कुल मिलाकर यह मज़दूर बस्तियों के विभिन्न क्षेत्रों में—ट्रेड यूनियन, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक—मज़दूरों, स्त्रियों और नौजवानों के बीच—समानांतर और समकालिक कार्य को हाथ में लेने का प्रश्न है। यहाँ विभिन्न प्रकार की गतिविधियाँ और उन्हें संचालित करने वाले संगठनों का समन्वय करने के काफ़ी अवसर मौजूद हैं।

उन बस्तियों में, जो देहातों में स्थित हैं, हमें इसके अलावा खेतिहर मज़दूरों और मेहनती किसानों के साथ सचेतन संबंध और संपर्क स्थापित करने चाहिए।

ट्रेड यूनियन संगठनों को अपने संसाधन और संस्तरों को इन तबक़ों को किसान सभा और खेत मज़दूर यूनियन संगठित करने, हरेक अवसर पर उनकी ओर बिरादराना हाथ बढ़ाने और जब कभी उनके संघर्ष हों, उनसे स्वयं को संबद्ध करने के कार्य में लगा देने चाहिए। जब कभी ग्रामीण निहित स्वार्थों द्वारा कमज़ोर तबक़ों के ख़िलाफ़ हमले हों, उन्हें समर्थन के लिए एकजुट हो जाना चाहिए।

मज़दूर वर्ग की कार्रवाइयों और जन-संघर्षों, जिनमें मज़दूर प्रमुख तत्व हैं, की बढ़ती हुई लहर को रोकने के प्रयास में प्रतिक्रियावादी निहित स्वार्थ दकियानूसीपन, धार्मिक तत्ववाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद के विचारधारात्मक माल—कोई भी और हरेक क़िस्म का हथियार जो मेहनतकश जनता को विभाजित और विघटित करता है—का प्रयोग कर रहे हैं। आज की दुनिया में नयी चुनौतियों का बहाना लेकर बुर्जुआ प्रचारक मज़दूर वर्ग के बीच वर्ग-समन्वय और वर्ग-शांति, 'राजनीति' से तटस्थता और विरोध (जिसका सीधा अर्थ है कि पूँजीवादी राजनीति के आगे समर्पण), उपभोक्तावाद आदि विचारधाराओं को प्रचारित कर रहे हैं। बहरहाल, जीवन स्वयं ही अधिक-से-अधिक राजनीतिक कार्रवाइयों में, राष्ट्रीय एकता और अखंडता के मुद्दों पर जन-संघर्षों में, साम्प्रदायिक एकता की सुरक्षा में मज़दूर वर्ग को खींच रहा है।

हमारा कार्य है मज़दूरों के संघर्षों के जीवनानुभवों को समाजवाद की वैज्ञानिक शिक्षाओं से जोड़ना। ट्रेड यूनियनों में विचारधारात्मक कार्यों को कम करके आँकना व इसकी उपेक्षा करने का अर्थ है मज़दूरों को पूँजीवादी विचारधारा का शिकार बनने देना। लेनिन के शब्दों का यहाँ स्मरण करना काफ़ी उपयोगी है : "पूँजीवादी विचारधारा समाजवादी विचारधारा की तुलना में काफ़ी पुरानी है··· यह ज़्यादा पूर्ण रूप से विकसित है और इसके पास प्रचार-प्रसार के कहीं ज़्यादा साधन मौजूद हैं।"

अतः ट्रेड यूनियन शिक्षा अर्थात् विचारधारात्मक शिक्षा के कार्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। कैंप और विद्यालय, अध्ययन केंद्र और अध्ययन समूहों को क्रमबद्ध रूप से नियोजित करना होगा।

भ्रष्टाचार, छिटपुट चोरी, सार्वजनिक सेवा और सार्वजनिक संपत्ति के प्रति उदासीन व ग़ैर-ज़िम्मेदार प्रवृत्ति, अधिकतम व्यक्तिगत लाभों की आकाँक्षा और आत्म-प्रशंसा, यही 'मुक्त समाज' के 'मूल्य' और 'गुण' हैं। यह सार्वजनिक जीवन में नैतिक उच्छृंखलता और पतनशीलता का वातावरण फैला रहा है। ठोस रूप में, यह हमारे सार्वजनिक क्षेत्र को नुकसान पहुँचा रहा है। इस सबके ख़िलाफ़ संघर्ष केवल एक जागरूक मज़दूर वर्ग द्वारा किया जा सकता है, जो उसी समय इस संक्रामक रोग से स्वयं को प्रभावित होने से बचाता है। सामाजिक विकास का उद्देश्य केवल मज़दूर वर्ग द्वारा ही आगे बढ़ाया जा सकता है जो नैतिक रूप से मज़बूत है और एक अग्रगामी विचारधारा से सन्नद्ध है।